बलभद्र कुमार हूजा
शिक्षा, मूल्य और समाज

प्रस्तुत पुस्तक में श्री हूजा के शिक्षा-सम्बन्धी लेखों का संकलन इसी उद्देश्य से किया गया है कि जब माननीय प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी तथा शिक्षामन्त्री पण्डित कृष्णचन्द्र पन्त शिक्षा के रूढ़िग्रस्त बर्तमान ढांचे में आमूल परिवर्तन के लिए कृत संकल्प हैं, तब शिक्षा का भावी कार्यक्रम निश्चित करने में इन लेखों से कुछ प्रकाश मिले। व्यवसायोन्मुख शिक्षा की चर्चा के साथ मूल्योन्मुख शिक्षा की प्रासंगिकता अपरिहार्य है क्योंकि संघटन, चरित्र निर्माण, राष्ट्र की पुनर्रचना तथा समानता, समृद्धि और न्याय पर आधारित समाज का पुनर्गठन मूल्योन्मुखी शिक्षा से ही सम्भव है।

एक शिक्षा शास्त्री के रूप में श्री हूजा का यह आह्वान मूल्यवान है कि आचार्य, ब्रह्मचारी तथा राष्ट्र शिक्षा के तीन बिन्दु हैं। इनका बिखराव समृद्ध राष्ट्र के त्रिभुज का निर्माण नहीं कर सकता। आचार्य को अपने शिष्य का पालन-पोषण तथा रखरखाव उसी तरह करना चाहिए जैसे माँ अपने गर्भस्थ शिशु का करती है। ब्रह्मचारी आचार्य का अनुव्रती हो तथा आचार्य ब्रह्मचारी का संरक्षक तथा पथ-प्रदर्शक और दोनों का लक्ष्य हो राष्ट्र का निर्माण तथा सामाजिक उत्थान। आज जैसे सच्चे आचार्यों का अभाव है, वैसे ही सच्चे विद्यार्थी भी दुर्लभ हो गए हैं, सामाजिक डोर से कट जो गए हैं दोनों। शिक्षा की नवीन योजनाओं को इस मूल-सम्बन्ध से प्राणान्वित करना है तभी विद्या परम्परा और आधुनिकता के संगम पर खड़ी हो सकेगी।

शिक्षा, मूल्य और समाज

लेखक :

बलभद्र कुमार हूजा

कुलपति :

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार (उ० प्र०)

संपादक :

डॉ० विष्णुदत्त राकेश

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

जगदीश विद्यालंकार

पुस्तकालयाध्यक्ष

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

यूनाइटिड बुक हाउस, दिल्ली

प्रकाशक	यूनाइटिड बुक हाउस ४८७२, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६
वितरक	राजी बुक सर्विस २१२२, रोदगरां, लाल कुआं, दिल्ली-११०००६
प्रथम संस्करण	१९८५
मूल्य	चालीस रुपये (४०-००)
मुद्रक	रघु कंपोजिंग एजेन्सी द्वारा सूरज प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

सम्पादक की ओर से

सिन्धु नदी की वादियों में पले-खेले श्री हूजा सच्चे हिन्दी हैं, राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता उनके रक्त में कूट-कूटकर भरी है। उच्च प्रशासन में रहकर भी जिन इने गिने आई० ए० एस० व्यक्तियों ने हिन्दी में उत्कृष्ट लेखन कार्य किया है, उनमें श्री हूजा अग्रपांक्तेय हैं। उनके पास कवि का भावुक-संवेदनशील हृदय भी है और विचारक की विश्लेषण क्षमता भी। युगपुरुष आचार्य विनोबा जी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने प्रसार-सेवा की दीक्षा भी ली। 'सर्वोदय की ओर' पुस्तक में उन्होंने उन्हीं दिनों के संस्मरणों को संकलित किया है। राजस्व सम्बन्धी समस्याओं तथा ग्राम-निर्माण सम्बन्धी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए आपने जो व्यावहारिक और रचनात्मक पग उठाए, उनकी झलक 'बबूल के तले' संग्रह में देखी जा सकती है। राजस्व मण्डल के अध्यक्ष के रूप में आपकी ख्याति बढ़ी। शीष पुष्प, फाँसी की रात, आरती तथा आहुति उनकी प्रेरणादायक कविताओं के संकलन हैं, जिनमें एक प्रबुद्ध व्यक्ति के नाते अनुभव-प्रक्रिया में, स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में चेतनागत संकटों का सामना करते हुए कई सार्थक जीवन बिन्दुओं पर रोशनी डाली गई है। 'एकोऽहं बहुस्याम' का उपनिषद् उन्होंने स्वाध्याय काल में भी पढ़ा तथा सेवाकाल में भी। उनका उद्देश्य सर्वदा यही रहा है—

मैं एक से अनेक हो जाऊँ
जिनके लिए माँ भारती का हित सर्वोपरि हो
जो अपने से बढ़कर
अपने मातहतों का ख्याल रखें,
उनकी कार्यकुशलता
और सेववृत्ति उजागर रहे
जो सदा जागरूक रहें॥

हिन्दी कविता में प्रजापति की भावना लेकर सृजनोन्मुख होना परम्परागत दायित्वबोध के निर्वाह का व्रती होना है और इस व्रत में श्री हूजा इसलिए सफल

हुए हैं कि निर्माण, क्षमता तथा निष्काम सेवा के देवता की शोभायात्रा निरन्तर उनकी कुटिया के आगे से गुजरती रही है। श्री हूजा का कर्तृत्व हिन्दी, उर्दू, पंजाबी तथा अंग्रेजी में अबाधगति से प्रकाशित होता रहा और अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताओं का यदि संकलन किया जाए तो उनकी संख्या सौ से ऊपर होगी।

उदयपुर कृषि विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति, मणिपुर लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उन्होंने शिक्षा-समस्याओं पर भी गहराई से विचार किया है। कामनवैल्थ विश्वविद्यालय के कुलपतियों के बरमिंघम में होने वाले सम्मेलन में उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा प्रणालियों की उपलब्धियों तथा सीमाओं पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। गुरुकुल में वैदिक शिक्षा कार्यशाला तथा मानव मूल्य एवं समाज में अन्तःसम्बन्ध जैसे राष्ट्रीय-स्तर के सम्मेलन आयोजित कर उन्होंने शिक्षा के पुनर्मूल्यांकन की दिशा में पहल की है। एशियाई कुलपतियों के सम्मेलन में भाग लेकर उन्होंने गुरुकुल शिक्षा के व्याज से भारतीय मूल की शिक्षा के स्वरूप और उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किए हैं। शिक्षा, समाज और जीवन मूल्यों को लेकर आपका अनवरत चिन्तन चलता रहा है और इसीलिए शिक्षा के राष्ट्र-व्यापी परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखकर अध्ययन, अनुसन्धान और प्रसारकार्य को आप संतुलित शिक्षा की नींव मानते रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को ग्रामोत्थान और प्रसार की धारा से भिन्न करके नहीं देखा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री हूजा के शिक्षा सम्बन्धी लेखों का संकलन इसी उद्देश्य से किया गया है कि जब माननीय प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी तथा शिक्षामन्त्री पण्डित कृष्णचन्द्र पन्त शिक्षा के रूढ़िग्रस्त वर्तमान ढांचे में आमूल परिवर्तन के लिए कृत संकल्प हैं, तब शिक्षा का भावी कार्यक्रम निश्चित करने में इन लेखों से कुछ प्रकाश मिले। व्यवसायोन्मुख शिक्षा की चर्चा के साथ मूल्योन्मुख शिक्षा की प्रासगिकता अपरिहार्य है क्योंकि संघटन, चरित्र निर्माण, राष्ट्र की पुनर्रचना तथा समानता, समृद्धि और न्याय पर आधारित समाज का पुनर्गठन मूल्योन्मुखी शिक्षा से ही सम्भव है।

एक शिक्षा शास्त्री के रूप में श्री हूजा का यह आह्वान मूल्यवान है कि आचार्य, ब्रह्मचारी तथा राष्ट्र शिक्षा के तीन बिन्दु हैं। इनका बिखराव समृद्ध राष्ट्र के त्रिभुज का निर्माण नहीं कर सकता। आचार्य को अपने शिष्य का पालन-पोषण तथा रखरखाव उसी तरह करना चाहिए जैसे माँ अपने गर्भस्थ शिशु का करती है। ब्रह्मचारी आचार्य का अनुव्रती हो तथा आचार्य ब्रह्मचारी का संरक्षक तथा

पथ-प्रदर्शक और दोनों का लक्ष्य हो राष्ट्र का निर्माण तथा सामाजिक उत्थान। आज जैसे सच्चे आचार्यों का अभाव है, वैसे ही सच्चे विद्यार्थी भी दुर्लभ हो गए हैं। सामाजिक डोर से कट जो गए हैं दोनों। शिक्षा की नवीन योजनाओं को इस मूल सम्बन्ध से प्राणान्वित करना है तभी विद्या परम्परा और आधुनिकता के संगम पर खड़ी हो सकेगी।

आज जहाँ शिक्षा स्वच्छन्द छोड़ दी गई है, वहाँ लक्ष्यहीन भी है। दिग्भ्रान्त युवकों का जो सैलाब देश के विभिन्न क्षेत्रों में उमड़कर आ रहा है, क्या आप कल्पना करते हैं कि इक्कीसवीं सदी के भारत के द्वार पर वह दस्तक देकर खुशहाली और शान्ति के अवरुद्ध कपाट खुलवा सकेगा। मनुष्य के समग्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा के बिना साहित्य, समाज और संस्कृति तीनों ही खोखले हैं। संघर्ष में डूबना और असम्पृक्त रहना भी एक कला है। सामाजिक न्याय की विराटता और वैयक्तिक नैतिक समस्याएँ विरोधी नहीं हैं। एकेडमिक और एक्सटैन्शन मूलक शिक्षा, परिक्षोपयोगी तथा प्रसारमूलक शिक्षा भी विरोधी नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा में नई मर्यादा का उदय हो और किसी भी प्रकार की क्रान्ति का स्वप्न देखने से पूर्व हम मूल्य मर्यादा की प्राण प्रतिष्ठा कर लें। विनोवा जी ने कहा था—'पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।' स्वतन्त्र संकल्प, आचरण की सामाजिकता, एकता की अनुभूति, सामूहिक क्रियान्वयन की वृत्ति तथा सर्वोदय की भावना शिक्षा के अन्तर्निहित मूल्य हैं और इनके लिए प्रतिबद्धता तथा मानसिकता अर्जित करना आवश्यक है। वर्तमान ढाँचे में इसके बिना परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह कि उद्देश्य हीन युवकों को राष्ट्रोपयोगी तथा जीवनोपयोगी बनाने के लिए राष्ट्रीय-चरित्र की स्थायीपूँजी पैदा करने वाली ऐसी शिक्षा का आधार लेना होगा जो उन्हें संस्कारी बना सके। श्री हूजा के निबन्धों में इसी तथ्य पर बार-बार बल दिया गया है।

'शिक्षा, मूल्य और समाज' नामक इस कृति को सहृदय पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें हर्ष हो रहा है। समाज-कल्याण और सम्पूर्ण उत्थान के उद्देश्य की पूर्ति में इस कृति से निःसन्देह प्रेरणा मिलेगी और हमारे आचार्य तथा ब्रह्मचारी अपने लक्ष्य को स्पष्टता के साथ पकड़ सकेंगे, इसका भी हमें पूर्ण विश्वास है। **'जनक्रान्ति के अग्रदूत'** लिखकर जहाँ श्री हूजा ने दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ के जन-जागरण के सन्देशों को मुखर किया था वहाँ **'शिक्षा, मूल्य और समाज'** के द्वारा वह युग-निर्माण के आलेख प्रखर करेंगे। उन्हीं के शब्दों में—

हे पवन रूपी घोड़ो,
बादलरूपी रथों पर, जल-कण को सवार करके
मेरे गाँव तक ले आओ,
यहाँ धरती बन सँवरकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।
वह बूंद-बुंद की राह देख रही है,
यहाँ पहुँचकर जल-कण, तुम रिम-झिम बरसो ।।

—विष्णुदत्त राकेश

विषय-सूची

शिक्षा की भारतीय परम्परा

राष्ट्रपति से लेकर जनसाधारण तक जो भी चिन्तक शिक्षा के क्षत्र में दिलचस्पी रखते हैं, सभी का कहना है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन आने चाहिए। यही विचार राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द एवं टैगोर का भी था। उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुरूप भारतीय शिक्षा पद्धति में परिवर्तन लाने का उपक्रम किया। लेकिन स्थिति अभी भी असन्तोष-जनक है।

मुझे भी भारतीय शिक्षा पद्धति को समझने-परखने के गत २५ वर्षों में अनेक अवसर प्राप्त हुए। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हमारी शिक्षा पद्धति को मोड़ देने हेतु जिस तन्त्र की आवश्यकता है, हम उस तंत्र को सुशिक्षित करने के लिए कुछ भी नहीं कर रहे हैं। मेरा अभिप्राय भारतवर्ष के लाखों शिक्षकों से है। हाल ही में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री सी० पी० एन० सिंह ने उत्तर प्रदेश में नई तालीम का आन्दोलन चलाया है। कुलपतियों के हाल ही में आयोजित लखनऊ सम्मेलन में उन्होंने इसी दिशा की ओर संकेत दिया तथा कहा कि शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम आरम्भ होने चाहिए।

इस कार्यक्रम में गुरुकुल काँगड़ी जैसी संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण योग-दान दे सकती हैं। अतः हम गुरुकुल काँगड़ी में वैदिक शिक्षा प्रणाली के आधार पर ऐसे पाठ्यक्रम को निर्धारित करने में लगे हैं जिसे हम शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं के समक्ष उपस्थित कर सकें।

इसी प्रसंग में मुझे स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के दूसरे-तीसरे सम्मुलासों का अनेक बार अध्ययन करने का अवसर मिला। लोग 'सत्यार्थप्रकाश' को पढ़ने से यह सोचकर हिचकिचाते हैं कि यह आर्य समाज का धार्मिक ग्रन्थ है। अतः जो आर्य समाजी नहीं, उससे उन्हें

क्या प्रयोजन ? वे सर्वथा भूल पर हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' के इन समुल्लासों में ऋषि दयानन्द ने शिक्षा सम्वन्धी जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे शिक्षा-शास्त्रियों के सामने वैज्ञानिक और तर्कसंगत चिन्तन उपस्थित करते हैं।

इन सम्मुलासों में स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति एवं अन्य आर्ष ग्रन्थों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अधिकांश शिक्षक वर्ग संस्कृत से अनभिज्ञ है।

उक्त समुल्लासों के अध्ययन से निम्न बातें उभरकर आती हैं :

१. मातृ शिक्षा अर्थात् महिला शिक्षा नितान्त आवश्यक है, जिससे कि बच्चों में उत्तम संस्कार पड़ें।

२. शिक्षा गर्भ से ही आरम्भ हो जाती है तथा आयु-पर्यन्त चलती रहती है।

३. ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है और उसका सन्तान पर भी प्रभाव पड़ता है शिक्षा उनको उपदेश, उदाहरण तथा सद्व्यवहार द्वारा दी जानी चाहिए। भ्रान्ति-जाल में गिराने वाले व्यवहार से उन्हें सचेत करना चाहिए।

४. आवश्यकतानुसार सन्तानों का ताड़न भी करना चाहिए। क्रोधादि दोष तथा कटुवचन को छोड़कर शांत एवं मधुर वचन बोलने चाहिए।

५. वड़ों को मान देना चाहिए।

६. स्वामी जी सहशिक्षा के विरोधी थे। लेकिन वे स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे। उनका विचार था कि प्रत्येक को गुरुकुल जाने का अधिकार है। जो अपनी सन्तान को गुरुकुल में न भेजें, उन्हें राजदण्ड दिया जाए।

७. सबको तुल्य वस्त्र, आसन, खानपान दिया जाना चाहिए, भले ही कोई राजकुमार हो या दरिद्र।

८. सबको तपस्वी होना चाहिए।

९. स्वामी जी ने प्राणायाम पर भी बहुत जोर दिया है। उनके विचार में प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण होते हैं।

१०. स्वामी जी ने देवयज्ञ, अग्निहोत्र और विद्वानों के संग पर भी बल दिया।

११. स्वामी जी बाल विवाह के विरोधी थे। उन्होंने कहा कि ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सात्विक जीवन व्यतीत करने के पश्चात परिपक्व अवस्था में पहुँचें, तभी विवाह करें।

१२. स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम में केवल वेदादि का पढ़ना-पढ़ाना ही पर्याप्त नहीं था। वह वेद, वेदांग एवं उपवेद जिनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थवेद जिसे शिल्प विद्या कहते हैं, सभी में प्रशिक्षण देने के पक्षधर थे। स्वामी जी के आदर्श के अनुसार दो-तीन विषयों का अध्ययन करके स्नातक की उपाधि हासिल नहीं हो सकती थी। स्नातक बनने हेतु विभिन्न उपवेदों एवं अन्य विषयों में भी प्रवेश आवश्यक था।

१३. इस तरह यह आवश्यक था कि गुरु विद्यार्थियों को अपने गर्भस्थ रखें तथा उनके सम्पूर्ण विकास में सहायता करने हेतु सर्वदा उद्यत रहे।

१४. स्वामी जी ने लिखा है कि आचार्य अन्तेवासी शिष्याओं को प्रमाद-रहित धर्माचरण का उपदेश दें।

ऋषि दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी विचार

शिक्षा के विषय में 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द ने जो विचार अथवा उपदेश व्यक्त किये थे, उनके प्रसंग में ध्यान देने की एक बात यह है कि दयानन्द स्वयं एक शिक्षाशास्त्री नहीं थे। न ही उन्होंने एक शिक्षाशास्त्री होने का कभी कोई दावा किया। लेकिन वे अपने ही ढंग से सत्य की खोज में लगे हुए थे और वेदों में उन्होंने सत्य का एक अनूठा भंडार खोज निकाला था, जब वेदों के अध्ययन के वाद उन्हें ज्ञान हुआ तो उन्होंने वेदों की सच्ची शिक्षा के प्रचार और प्रसार को ही अपने जीवन का व्रत मान लिया। इसी क्रम में वे उत्तरी भारत में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश, एक नगर से दूसरे नगर घूमते, विचरते और अपने प्रवचनों तथा उपदेशों से लोगों की सेवा करते रहे।

स्पष्ट है कि शिक्षा के सम्बन्ध में भी उनके विचार कुछ हद तक अपने स्वयं के वचपन और बाद के अनुभवों पर आधारित थे लेकिन अधिकतर इन विचारों के प्रेरणा-सूत्र वेद आदि ग्रन्थ ही थे।

लेकिन शायद स्वामी दयानन्द की सबसे बड़ी देन इस दिशा में यह थी कि उन्होंने सभी बच्चों के लिए और सभी जातियों के लोगों के लिए शिक्षा अथवा वेदों का पठन-पाठन और प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त करना एक अनिवार्य कर्तव्य माना। 'सत्यार्थप्रकाश' के तीसरे समुल्लास के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा कि सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, ज्ञान, कर्म और स्वभाव रूपी आभूषण धारण कराना न केवल माता-पिता बल्कि आचार्य और सम्बन्धियों का भी मुख्य कर्म है। फिर आगे उन्होंने ये ठोस और व्यावहारिक सुझाव दिया कि जब वे आठ वर्ष के हों तभी लड़कों और लड़कियों को उनकी अपनी-अपनी विशेष शालाओं में भेज दिया जाए। दयानन्द जिस युग के, जिस समाज के परिवेश में बच्चों के लिए अनिवार्य और समाज के लिए समान शिक्षा का उपदेश दे

रहे थे उसमें युगधारा के अनुसार उन्होंने सह-शिक्षा का निषेध किया। इसके पीछे उनका मुख्य लक्ष्य अथवा उद्देश्य यह था कि शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 'ब्रह्मचर्य' का पालन करते रहें। वे आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें ताकि उनमें उत्तम विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव, शरीर और आत्मा के बल युक्त हों और आनन्द को प्राप्त करें।

यही नहीं, उनके विचार में पाठशाला गाँवों अथवा नगर से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर होनी चाहिए। लेकिन वहाँ पर सबको समान वस्त्र, खान-पान, आसन इत्यादि दिए जाएँ, चाहे राजकुमार हो या दरिद्र की सन्तान हो। बल्कि ऐसे लड़के-लड़कियों का माता-पिता से भी अलग रहना या दूर रहना उचित ठहराया ताकि वे बिलकुल 'संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समय अथवा युग में महर्षि दयानन्द ने अपने ये विचार सबके सामने रखे, उसकी गतिविधियों और शिक्षाओं और मान्यताओं को देखते हुए, ये विचार सचमुच ही क्रान्तिकारी थे। इन विचारों में एक निराले प्रकार की चुनौती भी थी और हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि अनेक महानुभावों ने इस चुनौती को स्वीकार किया तथा महर्षि दयानन्द द्वारा बताये गए आधार पर ही उन्होंने देश के विभिन्न भागों में शिक्षा के केन्द्र अथवा गुरुकुल इत्यादि स्थापित किये। यही नहीं, इन विद्या-केन्द्रों में जो लोग गुरु अथवा आचार्य का रूप धारण करके गए, उन्होंने भी अत्यन्त निष्ठा, साधना और कर्तव्यपरायणता से अपने कर्तव्यों का पालन किया और सैकड़ों-हजारों लड़के-लड़कियों को विद्यादान दिया तथा उनके मन में भारत की पुरानी संस्कृति और सभ्यता अथवा आर्य संस्कृति के प्रति एक नयी श्रद्धा और अनुरक्ति पैदा की।

पिछले सौ वर्षों से अधिक की अवधि में आर्य समाज अथवा गुरुकुल के आन्दोलन ने इस देश के कायाकल्प करने में अथवा सामाजिक, मानसिक और बौद्धिक युग-परिवर्तन में जो योगदान किया है वह किसी से छिपा नहीं। यह भी एक आशाजनक और उत्साहवर्द्धक बात रही है, इसलिए प्रसार में और आधुनिक शिक्षा के लिए साधन जुटाने में भी आर्य समाज के अनुयायियों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। उत्तरी

भारत में ही नहीं, देश के अन्य कई प्रदेशों में तथा विदेश में कहीं भी भारत समाज के लोग रहते हैं, दयानन्द अथवा एंग्लो वैदिक स्कल और कॉलेज सैकड़ों की संख्या में खोले गए जिसमें लाखों की गिनती में विद्यार्थियों ने—लड़के-लड़कियों दोनों ने—ही अलग-अलग विषयों की शिक्षा ग्रहण की और साथ ही अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अभिरुचि भी उनके दिल में जागृत हुई। यद्यपि आधुनिक शिक्षा ग्रहण करने के विषय को लेकर आर्य समाज के भीतर काफी मतभेद रहे लेकिन यदि हम महर्षि दयानन्द की ओर से चलाये गए सत्य के अर्थ को ग्रहण करने और इसी अर्थ के प्रसार के लक्ष्य को लें तो शायद हमें यह मानना ही पड़ेगा कि गुरुकुल आन्दोलन अथवा एंग्लो वैदिक स्कूल या कॉलेज स्थापित करना, ये दोनों ही प्रकार के प्रयत्न एक ही धारा के दो रूप थे। दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य एक ही रहा था कि शिक्षा ग्रहण करने वालों में वही उत्तम गुण-कर्म और स्वभाव, सत्य और असत्य में परख करने की क्षमता इत्यादि के गुण जगाये जाएँ, जिनके बारे में स्वामी दयानन्द ने काफी विस्तार से वर्णन किया था।

वेदों और ऋषियों द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थों की विद्या ग्रहण करने के अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने जो अन्य विषयों के संकेत अपने उपदेशों में किया वे भी ध्यान देने योग्य हैं जैसे अर्थशास्त्र, छेदन-भेदन चिकित्सा, औषध, शरीर इत्यादि की देखभाल, राज्य-कार्य, शस्त्र-अस्त्र की विद्या, गंधर्व विद्या, शिल्प विद्या इत्यादि। यहीं उनकी यह धारणा थी कि विद्या की सब प्रकार की हस्त क्रिया, यन्त्र कला इत्यादि को सीखें—जिससे २० या २१ वर्ष के भीतर समग्र विद्या अथवा उत्तम शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। उनकी यह मान्यता थी कि जितनी विद्या इस रीति से २० या २१ वर्ष में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से सौ वर्ष में भी नहीं हो सकती।

संक्षेप में यदि हम देखें तो वास्तव में महर्षि दयानन्द की यह कल्पना अथवा आकांक्षा थी और यही शिक्षा या विद्या ग्रहण करने के बारे में उनके विचारों की सबसे बड़ी मुख्य बात थी कि देश के बालकों-बालिकाओं अथवा युवक-युवतियों का इस प्रकार से पालन-पोषण, प्रशिक्षण अथवा चरित्र-निर्माण किया जाए कि वे देश के सामने

उपस्थित सभी प्रकार की चुनौतियों का आत्मविश्वास के साथ सामना कर सकें।

पाँच प्रकार की परीक्षाओं के खरे-खोटे या सत्य-असत्य के बीच भेद करने अथवा विभिन्न प्रकार के प्रमाणों के खाते के बारे में जो कुछ उन्होंने कहा और लिखा; शरीर और मन के विकास के बारे में तथा बालकों में विभिन्न प्रकार के गुणों का संचार करने के बारे में जो उपदेश उन्होंने दिए और विशेष रूप से बहुरूपी मनुष्य के लिए जिस प्रकार की सम्पूर्ण विद्या के बारे में उन्होंने विशेष आग्रह किया, आज भी अनेक दिशाओं में हमारे लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकते हैं। हाँ, हमें युग और समय की माँग को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के प्रसार और विद्या के ग्रहण करने के बारे में आवश्यतानुसार परिवर्तन अथवा संशोधन तो करने ही होंगे। महर्षि दयानन्द ने कहीं यह नहीं कहा कि आज के युग की नयी-नयी विद्याओं को ग्रहण करने की कोशिश न की जाए अथवा नयी भाषाओं को सीखा न जाए, शासन कार्यों अथवा व्यापार के बारे में जो नयी पद्धतियाँ या चुनौतियाँ सामने आ रही हैं उनके बारे में जानकारी प्राप्त न की जाएँ। हमें खुले मन से यह सोचना होगा कि जिस मूलशिक्षा का बोध महर्षि दयानन्द ने हमें कराने की चेष्टा की थी, उसे आज के युग में बदलते हुए सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक वातावरण में कैसे बनाये रखा जा सकता है। यदि हम महर्षि दयानन्द की ओर से प्रस्तुत की गयी दो-तीन मोटी बातों को ही ध्यान में रखकर चलने की कोशिश करें तो इस दिशा में बहुत कुछ उपलब्धियाँ हो सकती हैं अर्थात् सभी वर्ग और जाति के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा, जो गृहस्थ अथवा संसारकी हर प्रकार की चुनौतियो से परे हटकर शान्ति और आनन्द के वातावरण में हो और जिसमें प्रत्येक बालक-बालिका को सभी प्रकार की शिक्षा जिसमें हस्त शिल्प और यन्त्रों की शिक्षा आदि भी शामिल हो प्रदान की जाए। दूसरे, शिक्षा का माध्यम जहाँ तक सम्भव हो हमारी अपने ही भाषा में हो। स्वयं महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में अपने उपदेशों का संकलन करते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया था कि उनकी बातें लोगों को आसानी से समझ आ जाने वाली भाषा में प्रस्तुत की जाएँ। जिस धैर्य

के साथ उन्होंने वेद मन्त्रों इत्यादि अनेक प्रकार के ज्ञानयुक्त उपदेशों का विश्लेषण उस समय की खड़ी बोली अथवा हिन्दी में किया, क्या हम उसका अनुसरण नहीं कर सकते? और तीसरे, आज की शिक्षा की चुनौती यह है कि वर्तमान और भावी पीढ़ी को बदलते हुए आज के युग-काल की चुनौतियों के लिए तैयार किया जाए ताकि हमारी वर्तमान और नयी पीढ़ी इस देश की पुरानी सभ्यता और संस्कृति की धरोहर और शिक्षा को ध्यान में रखते हुए हर प्रकार की चुनौतियों का आत्म-विश्वास के साथ सामना कर सके।

आर्य समाज का भावी पचासवर्षीय कार्यक्रम

१. आर्य समाज का कार्यक्रम सुधारवादी हिन्दुओं के सामाजिक संगठन का कार्यक्रम नहीं है बल्कि स्वतन्त्र रूप से सच्चे मानव के निर्माण का कार्यक्रम है। समय आ गया है जब आर्य समाज के भावी कार्यक्रम हिन्दुओं के न केवल धार्मिक एवं सामाजिक सुधार तक सीमित रहे बल्कि श्रेष्ठ मानव बनाने का कार्यक्रम हो, वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य किसी धर्म से सम्बद्ध हो।

२. आर्य समाज के सभासद होने के लिए वर्तमान समय में किसी भी हिन्दू का केवल चन्दा जमा करने एवं ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के मानने की औपचारिक घोषणा से सभासद होने की शर्तें पूरी नहीं होनी चाहिए बल्कि संस्कार, मान्यताओं एवं पारिवारिक जीवन शैली से भी आर्य समाज प्रतिबिम्बित होना चाहिए।

३. आर्य समाज का शैक्षणिक कार्यक्रम अब स्कूल एवं कॉलेज खोलने से हटकर वैदिक साहित्य के अनुसन्धान संस्थानों के खोलने का होना चाहिए। आज अनुसंधान एवं प्रकाशन का समय है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में वेदों की विभिन्न विधाओं पर अनुसंधान हेतु वैदिक अनुसंधान पीठों की स्थापना की जानी चाहिए। ऋषि दयानन्द के विचारों पर अधिकाधिक अध्ययन एवं शोध कराये जाने हेतु दयानन्द पीठों की स्थापना का व्यापक कार्यक्रम अब आर्य समाज के शैक्षणिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत अविभाज्य रूप से मानना चाहिए। इस दृष्टि से आर्य समाज, अजमेर के प्रयत्नों की सराहना की जानी चाहिए जिसके द्वारा दयानन्द शोध-पीठ की स्थापना राजस्थान सरकार के सहयोग से अजमेर में हो सकी। इस प्रकार के शोध-पीठों की स्थापना का क्रम आर्य जनता की जाग्रति से ही पूरा किया जा सकता है।

४. इक्कीसवीं सदी का समय लेखन एवं प्रकाशन का समय है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी वैचारिक पूंजी को अधिकाधिक रूप से साहित्य-प्रसार के रूप में प्रस्तुत करें। आज का मानव अपनी रुचि की सामग्री साहित्य के झरोखे से देखता, पढ़ता एवं मनन करता है। जन-जन में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्य समाज का यह महान कार्यक्रम होना चाहिए कि वैदिक साहित्य सस्ती दरों पर विपुल रूप में वितरित किया जाना चाहिए। प्रत्येक आर्य समाज वैदिक सिद्धान्तों एवं ऋषि दयानन्द के विचारों को व्यक्त किए जाने वाली छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के निःशुल्क वितरण का एक ऐसा केन्द्र होना चाहिए जिसके अन्तर्गत उस शहर के सभी पुस्तकालयों में, कॉलेजों में, सार्वजनिक सभागारों में यत्र-तत्र आने वाले सभी नागरिकों को इस प्रकार की पुस्तिकाएँ सहज रूप में मिल सकें।

५. विश्व का मानव आज आध्यात्मिक क्षुधा से आकुल है। भौतिक भोजन से अतृप्त आज का मनुष्य मानसिक परितोष को प्राप्त करने के लिए छटपटा रहा है। सच्चे धर्म की खोज में आज का बुद्धि-जीवी अविकल रूप से बैचेन है। व्यथित एवं संतप्त विश्व के मानव समुदाय को वेदों की पीयूष धारा में स्नान कराने की विपुल जिम्मेदारी आज के आर्य समाज के कन्धों पर होनी चाहिए। वैदिक धर्म के सन्देश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने हेतु आज ऐसे आर्य प्रचारकों की आवश्यकता है जो अंग्रेज़ी एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में निष्णात हों। विश्व के सुदूर अंचलों में वैदिक धर्म का प्रकाश फैलाने का महान उत्तर-दायित्व इस आर्य समाज संस्था का ही है।

६. वेद मन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ आज के परिप्रेक्ष्य में किए जाने परम आवश्यक हैं। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अपने-अपने विषय ज्ञान के भण्डार के साथ वेदों के अर्थों का प्रतिपादन करें जिससे वेद सब विधाओं का आगार सिद्ध हो सके। आर्य समाज के गुरुकुलों में अब आवश्यकता है कि वेद एवं विज्ञान की साथ-साथ शिक्षा देने की व्यवस्था हो। विज्ञान के शोध अभ्यार्थियों को संस्कृत का भी ज्ञान हो, वेद मन्त्रों से वैज्ञानिक सिद्धान्तों का विमोचन हो। उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने हाल ही में यह निश्चय किया है कि

शोध करने वाले प्रत्येक छात्र को संस्कृत भाषा का अभीष्ट ज्ञान परम आवश्यक होना चाहिए। अतः प्रत्येक शोध अभ्यार्थी के लिए चाहे वह किसी भी विषय का हो, संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक होगा अन्यथा उसको शोध उपाधि नहीं प्रदान की जाएगी।

७. विगत शताब्दी आर्य विचारों, मान्यताओं एवं वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार की शताब्दी थी। हम उसमें काफी अंशों तक सफल भी हुए। आज विश्व के प्रत्येक भाग में आर्य समाज स्थापित है। इक्कीसवीं शताब्दी का आरम्भ हमें आश्रम व्यवस्था की क्रियात्मकता, वेदभाष्यों की वैज्ञानिकता एवं अनेकार्थता के साथ प्रकाशित करना है। विश्व के मंच पर वेद मन्त्रों का वैज्ञानिक स्वरूप प्रकट करने के लिए वैदिक वाङ्मय के विपुल शोध की जिम्मेदारी आज समाज नहीं लेगा तो कौन लेगा? वेदों के अंग्रेजी में व्याख्या ग्रन्थ निकलने चाहिए। वैदिक सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने वाले साहित्य का व्यापक रूप से अंग्रेजी भाषा में सृजन करवाकर विश्व के प्रत्येक अंचल में इस आध्यात्मिक प्रकाश को फैलाने का महान उत्तरदायित्व प्रत्येक आर्य पर होना चाहिए।

८. आर्य समाज में युवावर्ग को आकृष्ट करने हेतु आज के बदलते सन्दर्भ में कुछ नये कार्यक्रम आर्य समाजों में चलाये जाने चाहिए। प्रत्येक आर्य समाज में व्यायामशाला, योगशिविर, वाद-विवाद प्रतियोगिता, पद-यात्राएँ आदि के कार्यक्रम अधिकाधिक रूप में आयोजित किये जाने चाहिए। राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक वर्ष में आर्य युवकों को प्रशिक्षित किये जाने हेतु विशाल शिविर लगाये जाने चाहिए जिसमें हजारों आर्य युवक एक मास तक साथ-साथ रहकर बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता का विकास कर आर्य समाज नींव के प्रहरी बन सकें। सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में युवक ही सच्चा योगदान दे सकते हैं। प्रत्येक समाज दहेज-विरोधी, मद्य-निषेध आदि कार्यक्रमों को लेकर युवाशक्ति का प्रभावी उपयोग उसमें कर सकता है।

९. आर्य समाज को जीवन्त रूप से ज्योतिर्मय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम आगामी वर्षों में आर्य समाज को अपने-अपने घर, परिवार एवं जीवन तक में सराबोर कर दें। दैनिक जीवन में यज्ञ

का समावेश, पारिवारिक जीवन में संस्कारों का निवेश, राष्ट्रीय धारा में वैदिक संस्कृति का प्रणयन—यह सब सुसंगत रूप से तभी हो सकता है जब आर्य समाज का प्रकाश अपने घर से उठता हुआ बाहर तक पहुँचे।

१०. षोडश संस्कारों का घर-घर में प्रचार हो। प्रत्येक संस्कार वैदिक संस्कृति की जीवन शैली से सुरभित हो। आर्य समाज मन्दिरों के द्वारा दहेज-विरोधी विवाहों का आयोजन होना चाहिए। सादगी एवं सरल तरीके से वैदिक संस्कारों के कराये जाने की व्यवस्था से ही हम अपने इन संस्कारों द्वारा घर-घर पहुँच सकते हैं।

११. इक्कीसवीं शताब्दी का हमारा नारा होना चाहिए कि प्रत्येक आर्य समाज में एक विद्वान पुरोहित हो। वैदिक संस्कारों को प्रभावशाली ढंग से कराये जाने की व्यवस्था प्रत्येक आर्य समाज में होनी परम आवश्यक है। इसके लिए योग्य पुरोहितों एवं प्रचारकों के निर्माण हेतु प्रतिनिधि सभाओं द्वारा व्यापक प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन किया जाना चाहिए।

१२. ऋषि दयानन्द की विचारधारा सम्पूर्ण जीवन के सर्वोत्तम उपयोग हेतु एक गतिशील कार्यक्रम प्रदान करती है। आश्रम व्यवस्था का सुदृढ़ रूप में जारी होना आर्य समाज को जीवन्त संस्था बनाये रखने के लिए परम आवश्यक है। जीवन के भोगों को भोगने के पश्चात् आयी उपराम वृत्ति का उपयोग वानप्रस्थ के रूप में यदि आर्य समाज में नहीं हुआ तो हमारी समूची जीवन शैली पर एक प्रश्नचिह्न अंकित हो जाएगा। संन्यास आश्रम की व्यवस्था का यदि आर्यों में प्रचलन नहीं हुआ तो हमें निःस्वार्थ प्रचारकों का समुदाय कहाँ से मिलेगा! यदि वानप्रस्थ एवं संन्यास की वृत्तियाँ आचरण पर नहीं क्रियान्वित हुईं तो आर्य समाज के प्रचार-प्रसार का चक्र अवरुद्ध हो उठेगा।

१३. आर्य समाज प्रतिनिधि सभाएँ इतनी शक्तिशाली होनी चाहिए कि देश की कोई पार्टी राष्ट्रीय महत्त्व के राजनैतिक सवालों एवं बुनियादी समस्याओं के समाधान में आर्य समाज की भूमिका की अवहेलना न कर सके। प्रतिनिधि सभाओं की राजार्य सभाएँ (राजनैतिक समितियाँ) देश-हित में आने वाले राजनैतिक दृष्टिकोण को जन-मानस के सामने प्रकटित करें। राष्ट्रीय नव-निर्माण की धारा में

आर्य समाज की चट्टान सदृश भूमिका हो ऐसा स्वरूप सशक्त प्रतिनिधि सभाओं के दिये जाने वाले कार्यक्रमों से ही सम्भव है।

१४. आज की समूची प्रचार-व्यवस्था दूर संचार के विभिन्न साधनों पर आश्रित है। वैदिक सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने हेतु दूरदर्शन, आकाशवाणी, समाचार-पत्रों, वृत्तचित्रों आदि के माध्यमों के उपयोग के लिए आम जनता को एकजुट होकर जनमत जाग्रत करना चाहिए कि जिस तरह सिख समुदाय की गुरुवाणी का या धीरेन्द्र ब्रह्मचारी के योग का विशेष रूप से दूरदर्शन एवं आकाशवाणी आदि साधनों से प्रसारण होता है उसी प्रकार वेदमन्त्रों की व्याख्याएँ भी इन साधनों के द्वारा अधिकाधिक प्रचारित होनी चाहिए।

१५. पिछली शताब्दी में हमारा निर्बाध प्रवेश शहरी अमलों एवं उत्तरार्द्ध में कस्बों तक पहुँच गया था। अब समय आ गया है जब आर्य समाजों की व्यापक स्थापनाएँ तहसील स्तर से गाँवों तक पहुँचें। इस सन्दर्भ में हरियाणा का उदाहरण हमारे सामने है, जहाँ गाँवों में आर्य समाजों की स्थापनाएँ बड़ी तेजी से होती जा रही है।

प्रत्येक आर्य समाज में अब एक मेटाडोर वाहन, एक पुरोहित एवं एक भजनीक की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उस क्षेत्र के दूर-दराज गाँवों की परिधि चलती-फिरती प्रचार व्यवस्था के अन्तर्गत आनी चाहिए। चलती-फिरती प्रचार-व्यवस्था का क्रम अगली दशाब्दी तक हमारे समाज में तेजी से बढ़ना चाहिए।

आर्य समाज के सभी शिक्षा संस्थानों में शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के अन्तर्गत ऋषि दयानन्द के वैचारिक दर्शन का प्रतिबिम्ब अभिमुख होना चाहिए। आर्य समाज के अन्तर्गत आने वाली सभी शिक्षा संस्थाओं का केवल एकसूत्रीय कार्यक्रम होना चाहिए—वह है संस्थान में पढ़ने वाला प्रत्येक छात्र ऋषि दयानन्द के विचारों से ओत-प्रोत होकर निकले। प्रचार एवं प्रसार के इन साधनों के उपयोग से ही आर्य समाज एक जीवन्त संस्था के रूप में कार्य कर सकेगा।

बदलते मूल्य, बदलते रिश्ते और पीढ़ी का अन्तराल

यह ठीक है कि बदलते जमाने के साथ सामाजिक मूल्य भी बदलते हैं। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि समाज के स्थायित्व के लिए कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं जिनके त्यागने से समाज में अव्यवस्था पैदा हो जाती है।

आजकल पीढ़ियों के अन्तराल की बात चलती है। मैं इस विचार को एक मिथ अथवा मिथ्या की संज्ञा देता हूँ। लगता है कि नई और पुरानी पीढ़ी में अन्तराल है, लेकिन जो कुछ भी हो रहा है, वह सामाजिक विकास की ही तो प्रक्रिया है।

यदि सही दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट है कि एक पीढ़ी सड़क बनाती है तो दूसरी उस सड़क पर चलती हुई उसे बढ़ाती है। या दूसरी उपमा दी जाय तो यह कहना होगा कि नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के कन्धों पर चढ़कर क्षितिज की नई दूरियों को झाँकती है। इसलिए नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में अन्तर प्रतीत होता है। लेकिन है यह सब सत्य और अनन्त की खोज की साधना ही।

जो आज बूढ़ा है वह कल नवयुवक था और उस वक्त उसने पूर्व की पीढ़ी को चुनौती दी थी जैसे कि आज की नई पीढ़ी उसको चुनौती देती है। बुज़ुर्गों को यह बात अखरती तो है लेकिन उनको जब अपनी जवानी की याद दिलाई जाए तो वे स्वीकार करेंगे कि उन्होंने भी ऐसी ही करतूतें की थीं, जो उनके बुज़ुर्गों को नापसन्द रही होंगी। इन्हें हरकतों की संज्ञा देना भी गलत होगा। यह हरकतें तो दैवी जिज्ञासा का क्रियात्मक रूप हैं, जिन्हें महात्मा गाँधी ने सत्य के प्रयोग कहा है।

अन्त में क्या मिलेगा यह तो कहा नहीं जा सकता, लेकिन इतना निश्चय है कि जब से मानव का इस पृथ्वी पर अवतरण हुआ है यह खोज जारी है और अनन्तकाल तक जारी रहेगी।

यह भी ठीक है कि आज मानव जिस दिशा में जा रहा है वह इतनी भयानक है कि उसका अन्त प्रलय हो सकता है। लेकिन फिर मानव में आत्मरक्षा की जो भावना है उस पर विश्वास करते हुए कहा जा सकता है कि मानव में सद्बुद्धि की प्रेरणा प्रबल होगी और वह विनाश से बचता रहेगा।

केवल आज की ही युवा पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से विद्रोह करती हो, ऐसी बात नहीं है। विद्रोह करना और नई लकीरों पर चलना तो तरुणाई का सदा से ही स्वभाव रहा है।

प्रह्लाद भी इसी तरह का एक क्रान्तिकारी युवक था। उसके पिता हिरण्यकश्यप ने जब चाहा कि उसका पुत्र उसे भगवान के रूप में स्वीकार करे तो प्रह्लाद ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। फलस्वरूप, हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को भाँति-भाँति की यातनायें दीं। कभी ऊँचे पहाड़ से नीचे गिराया, कभी होलिका के साथ उसे जलती हुई आग में बिठाया और कभी गरम खम्भे के साथ बाँधा, लेकिन प्रह्लाद सत्य पर अडिग रहा।

इसी प्रकार उपनिषदों में नचिकेता का प्रसंग आता है। जब उसके पिता ने ब्राह्मणों को बूढ़ी गायें देकर टालना चाहा तो नचिकेता ने कहा कि मुझे किसको दान में दोगे। बालक के बार-बार आग्रह करने पर उसका पिता क्रुद्ध होकर बोला, तुझे यमराज को दूँगा। पिता क्रोध में कह तो गया, किन्तु उनकी प्रतिज्ञा भंग न हो, इस हेतु नचिकेता यमराज के पास चला गया। कहने का तात्पर्य यह है कि युवक अपने वृद्धों की हर बात पर, हर हरकत पर नजर रखते हैं, और यदि वृद्ध चाहते हैं कि उनमें अन्तराल न हो तो उन्हें सदैव सजग रहना होगा, सत्याचरण करना होगा।

वास्तव में यह तरुणाई का गुण है कि वह अन्याय, अज्ञान, अभाव के विरुद्ध युद्ध करती है और इसी में समाज और राष्ट्र का हित निहित है।

वक्त आने पर तरुणाई का ओज शिथिल हो जाता है। फिर नई तरुणाई अंगड़ाई लेती है और इस प्रकार समाज को आगे बढ़ाने में अपना योगदान देती है।

आज के युग में हम जो नाटक देखते हैं वह भी कुछ इस प्रकार

का है। जब युवा पीढ़ी पुरानी पीढ़ी को व्यावहारिकता के नाम पर सत्य के मार्ग से डिगते देखती है तो उसकी आत्मा को क्लेश होता है और वह विद्रोह करती है। यदि इस अवस्था में उसको सही मार्गदर्शन मिल जाय तो वही युवाशक्ति समाज और देश को उन्नति की दिशा में ले जाती है, अन्यथा समाज के लिए घातक सिद्ध होती है।

मेरी पीढ़ी भाग्यशाली थी कि उसे दयानन्द, श्रद्धानन्द, गोखले, तिलक, गांधी, लाजपतराय, अरविन्द, सुभाष, टैगोर, नेहरू जैसे उच्च आदर्शों वाले कर्मठ नेताओं का नेतृत्व प्राप्त था। उनके नेतृत्व में उस वक्त की तरुण पीढ़ी ने समृद्ध ब्रिटिश साम्राज्य से, जिसके शासन में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, न केवल टक्कर ली, अपितु देश को उससे मुक्ति भी दिलाई और उसके फलस्वरूप विश्वभर में आज़ादी की ऐसी लहर फैली कि कुछ ही वर्षों में विश्व के अनेक राष्ट्र साम्राज्यवाद के चुंगल से मुक्त हो गये।

हमारी पीढ़ी के सामने गरीबी के दानव से छुटकारा पाने की समस्या भी थी। इसके समाधान हेतु पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, जिसके फलस्वरूप कुछ प्रगति हुई। भारत में बिजली नहर योजनाएँ बनीं, हरित क्रान्ति हुई, कारखाने लगे। भारत की गणना संसार के दस अग्रणी औद्योगिक देशों में होने लगी। लेकिन जन-साधारण की गरीबी की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

निसन्देह इसके हल के लिए पुरानी और नई पीढ़ी दोनों को सोचना होगा। इसी सन्दर्भ में शासन ने बीस-सूत्रीय कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार की है।

इसके अन्तर्गत गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने कांगड़ी ग्राम को प्रयोगशाला के रूप में अपनाया है और विश्वविद्यालय के अधिकारी, जिला-अधिकारी एवं बैंक के अधिकारी मिलकर यदा-कदा यहाँ ग्राम-सभाओं का आयोजन करते हैं, जिनमें बड़े-बूढ़े सब मिलकर उन्नति के पथ की खोज करते हैं और इसका यह परिणाम है कि जहाँ आज से दो वर्ष पहले अभाव और अंधेरा था, आज उस गाँव के अन्दर पक्की सड़कें, कुआं, आवास, पुस्तकालय, गोबर गैस आदि सुविधाएँ प्राप्त हैं। न्यू बैंक ऑफ इण्डिया एवं स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने ग्रामवासियों की

आर्थिक उन्नति के लिए लगभग १,००,००० रु० कर्जा दिया है। परिणामस्वरूप आज उनमें से कइयों की ३०-४० रु० प्रतिदिन तक आमदनी बढ़ी है।

अलबत्ता हम एक महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल नहीं हो पाये और वह है वृक्षारोपण। इसका कारण चकबन्दी होना बताया जाता है; क्योंकि ग्रामवासियों को यह निश्चय नहीं था कि भूमि का कौन-सा टुकड़ा किसके हिस्से में आयेगा और कौन-सा किसके। फलतः उन्हें वृक्षारोपण में दिलचस्पी नहीं रही।

एक और दिशा में भी हमें पर्याप्त सफलता नहीं मिल पाई। वह है ग्रामीण महिलाओं में नव-चेतना का जागरण। इसका कारण हमारे पास महिला कार्यकर्त्ताओं का अभाव था।

शुरू में ग्रामवासी अचंभित थे कि यह हो क्या रहा है। लेकिन अब उनमें विश्वास पैदा हो रहा है। उनकी आँखों में चमक नजर आती है। गाँव में उक्त जितनी सफलताएँ प्राप्त हुई उनमें गाँव के नवयुवक दल का सक्रिय सहयोग रहा। कहने का अभिप्राय यह है कि युवाशक्ति और वृद्ध शक्ति के पारस्परिक समन्वय से ही ये सब सफलताएँ प्राप्त हुई हैं।

इसी सन्दर्भ में उपनिषद में एक और कथा याद आती है।

एक जंगल में एक अन्धा और एक लंगड़ा बैठे हुए थे। जंगल में आग लग गई। अन्धा और लंगड़ा दोनों सोचने लगे कि किया क्या जाए ? दोनों ही अपंग थे। एक देख नहीं सकता था तो दूसरा चल नहीं सकता था। दोनों ने अपनी-अपनी शक्तियों का समन्वय किया। लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठकर उसे रास्ता बताने लगा और कुछ ही देर में वे जंगल की आग की पहुँच से बाहर हो गये।

यही रिश्ता वृद्ध पीढ़ी और तरुण पीढ़ी का है।

यह तो निर्विवाद है कि टकराव चाहे पीढ़ियों का हो, व्यक्तियों का हो, राष्ट्रों का हो, यह तभी होता है जब आपसी स्वार्थ टकराते हैं। टकराव चाहे एक ही पीढ़ी का हो या विभिन्न पीढ़ियों का अन्तराल तो पैदा होगा ही।

हमारे आजकल के बुजर्ग नेताओं का ही उदाहरण लीजिए। सभी

एक ही पीढ़ी के हैं। लेकिन उनमें वैचारिक और मानसिक अन्तराल सर्वविदित है।

इसके विपरीत गाँधी जी और नेहरू दो विभिन्न पीढ़ियों के थे, लेकिन उनमें कोई टकराव नहीं था।

सत्य ही कहा है कि पुत्र और शिष्य की उन्नति देखकर हरेक माता-पिता और गुरु को गर्व होता है और सभी चाहते हैं कि उनके पुत्र तथा शिष्य उनसे भी आगे वढ़ें और उनमें किसी प्रकार का टकराव न हो।

इसीलिए तो हमारे वैदिक ऋषियों ने वानप्रस्थ की व्यवस्था की थी ताकि गृहस्थ आश्रम की समाप्ति पर प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक सांसारिक कार्य अगली पीढ़ी के हवाले करते हुए वानप्रस्थ में प्रवेश ले।

इसके साथ ही यह भी अपेक्षित था कि वानप्रस्थी ही गुरुकुलों को चलाये जिससे वे अपने लम्बे तजुर्बे का उपयोग गुरुकुलों में कर सकें। दादा और पोते का, साठे और आठे का साहचर्य गुरुकुलों में ही सम्भव हो सकता है।

इसी प्रसंग में यह भी जिक्र करना चाहूँगा कि जब शिष्य गुरुकुल में प्रवेश करता था तो उसे तीन रात्रि गुरु के गर्भ में व्यतीत करनी होती थीं।

सुविख्यात मनीषी डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार रात्रि का अभिप्राय अंधेरे से है। वेद कहता है—तमसो मा ज्योतिर्गमय। मुझे अंधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो। गुरु प्रकाश है। ब्रह्मचारी तीन प्रकार के अंधेरे से घिरा है—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। जब गुरु के कुल में उसका प्रवेश होता है तो गुरु उसका उक्त तीन प्रकार का अंधेरा दूर करने का प्रयत्न करता है।

गुरु को यम अर्थात् मृत्यु भी कहा है। ऊपर मैंने नचिकेता का यमाचार्य के पास जाने का जिक्र किया। जब शिष्य यम के पास जाता है तो मर जाता है, अर्थात् उसके सब प्रकार के पूर्व संस्कारों का अन्त हो जाता है। वह अपने पूर्वाग्रह समाप्त कर नये संस्कार ग्रहण करने को उद्यत होता है एवं पूर्णतया गुरु के अंकुश में रहता है। हाँ, इसके साथ गुरु का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। गुरु को सच्चे मानों में गुरु,

आचार्य, सदाचारी बनना होगा; तभी वह शिष्य को सर्वांगीण शिक्षा दे पायेगा। अब आप सोचिये कि जो शिष्य १६-१७ वर्ष तक गुरु के गर्भस्थ रहे तो उस शिष्य और गुरु में अन्तराल कैसा ?

आज यदि अन्तराल के लक्षण यत्र-तत्र दिखाई देते हैं तो उसका एकमात्र कारण यह है कि गुरु अपने शिष्य को गर्भस्थ नहीं करता। उससे शिष्यवत् व्यवहार नहीं करता। पिता अपने पुत्र से पुत्रवत् व्यवहार नहीं करता। गुरु एवं पिता अपने शिष्य एवं पुत्र को अपने से इतर समझते हैं। पिता अपने व्यवसाय में तल्लीन रहकर अपने पुत्र की देख-भाल के लिए समय नहीं निकाल पाता। अतः पिता-पुत्र में, गुरु-शिष्य में अन्तराल तो होगा ही।

प्राचीन काल में पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता था—

अंगादंगाद् सम्भवसि हृदयावधि जायसे,
आत्मवै पुत्र नामासि त्वम् जीव शरदः शतम्।

अर्थात्—हे पुत्र ! तू मेरे अंग से बना है, मेरे हृदय से पैदा हुआ है। तू मेरे जैसा ही है। तू सौ वर्ष जी।

आज की पीढ़ी के सम्मुख राष्ट्र-निर्माण की, गरीबी हटाने की चुनौती विद्यमान है। इसके लिए भगीरथ पुरुषार्थ और आपसी सहयोग की आवश्यकता है। यह तभी संभव है जब ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कर्म का यथासमय और यथाशक्ति पालन करें।

हमारे ऋषियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना ही इसीलिए की थी कि समाज के सभी अंग संगच्छध्वं की मेल-मिलाप की भावना से कार्य करें। उनमें आपसी टकराव की कोई सम्भावना ही न रहे।

युवा क्षमता का सदुपयोग

भारत जैसे महान विकासोन्मुख देश के लिए यह अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है कि हम उसके उत्थान हेतु युवा क्षमता का किस प्रकार उपयोग करें। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि किसी देश का युवावर्ग ही उसकी रीढ़ की हड्डी होता है जिस पर राष्ट्र का वर्तमान तथा भविष्य टिका होता है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राग में युवाशक्ति ने जो शानदार भूमिका निभाई उसका वर्णन सदा स्वर्णाक्षरों में किया जायेगा। अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण युवावर्ग को सुदृढ एवं उन्नत बनाना राष्ट्र की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि युवाशक्ति से हम किस प्रकार का सहयोग लें अथवा युवाशक्ति का किस प्रकार सदुपयोग करें। इस पर विचार करने से पूर्व हमें यह सोचना होगा कि देश की वे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ क्या हैं जिनके लिए युवाशक्ति से सहायता अपेक्षित है। आवश्यकताओं का समुचित आकलन करने हेतु हमें युद्ध तथा शान्ति, दोनों ही परिस्थितियों पर विचार करना होगा।

जहाँ तक युद्ध की परिस्थितियों का सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि वहाँ युवाशक्ति के बिना काम नहीं चल सकता और यह युवाशक्ति ही सैनिकों के वेश में देश की सीमाओं की रक्षा कर सकती है।

शान्ति की परिस्थितियों में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकताएँ बेकारी तथा दरिद्रता, भ्रष्टाचार, दहेज-प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष, प्रौढ़-शिक्षा, महिला उद्धार, हरिजनोद्धार, लोकतांत्रिक अनुशासन स्थापित करना, प्रदूषण-निवारण, वन रक्षा तथा देश की एकता एंवं अखण्डता की रक्षा हैं।

इनमें सर्वप्रथम बेकारी तथा दरिद्रता उन्मूलन का प्रश्न आता है। इनके साथ ही नैतिकता तथा भ्रष्टाचार-निवारण के प्रश्न जुड़े हुए हैं।

इस प्रसंग में स्वावलम्बन और स्वदेशी की बड़ी भारी भूमिका है। आज हमारा युवावर्ग १४-१६ वर्ष तक पठन-पाठन करने के उपरान्त भी अपने आपको उस समय निस्सहाय पाता है जब वह अपनी शिक्षा के अनुरूप व्यवसाय प्राप्त नहीं कर पाता। इससे यह स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य की अवस्था में किसी न किसी क्रिया-कौशल में दक्ष बनाएँ, जिससे वह स्नातक स्तर पर पहुँचते-पहुँचते स्वावलंबी बन सके और बेकारी के भंवर में न फँसे। कहावत है—'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्।' अत: युवावर्ग को भुखमरी से बचाना, उसकी कार्यक्षमता तथा कौशल्य बढ़ाना हमारा पहला कर्तव्य है। स्वावलम्बी युवावर्ग स्वदेश-प्रेमी हो तो सोने में सुहागा है।

प्राकृतिक दृष्टि से भारत एक बहुत समृद्ध देश है, किन्तु बावजूद छठी पंचवर्षीय योजना के भारत की अर्थव्यवस्था इतनी असन्तुलित है कि इसकी अधिकांश जनता अभी अभावग्रस्त है। इस असन्तुलन और वैषम्य को मिटाना हमारा परम कर्तव्य है। आज अमीर और गरीब दोनों परस्पर-विरोधी वर्ग बन गये हैं। आर्थिक विषमता मिटने से ही भ्रष्टाचार दूर होगा। नैतिकता का वातावरण उत्पन्न होगा। तभी देश से दहेज जैसी कुप्रथा दूर होगी। सही अर्थ में देखा जाए तो दहेज का दूसरा नाम पति की बिक्री ही तो है। एक सुसंस्कृत समृद्ध समाज में पति बिकेंगे नहीं, किन्तु स्वयं वरे जायेंगे। इसके साथ ही महिला-शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा, हरिजनोद्धार की समस्याएँ जुड़ी हैं। नारी शक्ति देश की महत्त्वपूर्ण शक्ति है। देखा जाए तो इसे जागृत करने का भार भी प्रबुद्ध युवावर्ग पर ही है।

अभाव के अतिरिक्त हमारा समाज अज्ञान के अन्धकार से ग्रसित है। यूँ भी कहा जा सकता है कि अज्ञान के कारण पाखण्ड फलते-फलते हैं, राष्ट्रीयता की भावना जातीयता के नीचे दबी सिसकती रहती है। फलस्वरूप देश की अखण्डता खतरे में पड़ जाती है। कुरीतियाँ समाज में घर कर लेती हैं। मानव और प्राकृतिक सम्पत्ति का विकास नहीं होता। सारांश में समाज अपंग बनता है।

अज्ञान के निवारण और विज्ञान के प्रसार में प्रबुद्ध और जागृत
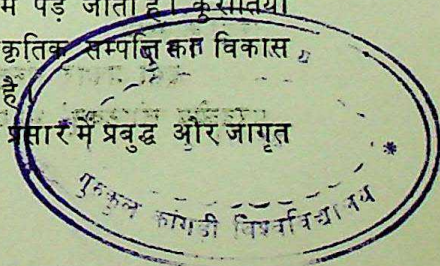
युवाशक्ति ही यथेष्ट योगदान दे सकती है। अज्ञान और अभाव दूर हुआ तो अन्याय की गुंजाइश ही कहाँ रह जाएगी।

अतः हम लौट-फिरकर वहीं आते हैं कि हम युवावर्ग को ऐसी शिक्षा दें जिसके द्वारा उनमें किसी कार्य-कौशल के अतिरिक्त नैतिकता और देश-भक्ति का विकास हो।

मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में जगह-जगह पर दोराहों और चौराहों पर आ खड़ा होता है। उसको सोचना होता है कि किधर जाऊँ, अब कौन-सा रास्ता पकड़ूँ। सही या गलत रास्ते का ज्ञान करने हेतु उसे विवेककी आवश्यकता होती है। विवेकशक्ति जागृत हो जाए तो मनुष्य सही रास्ता ही पकड़ेगा। विवेक-शक्ति जागृत करने हेतु हम अपने वैदिक और संस्कृत साहित्य का आश्रय ले सकते हैं। प्रत्येक साधक के जीवन में या राहगीर के जीवन में वेद और संस्कृत के सुभाषित मार्ग-दर्शक के रूप में आ खड़े होते हैं। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' —सुस्त, हतोत्साह से घिरे हुए मनुष्य को उठाने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंचित जगत्यां जगत तेन त्यक्तेन् भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्।" मनुष्य को ईश्वरीय शक्ति का आभास करते हुए लालच से बचाता है। 'इदन्नमम्' का पाठ त्याग की प्रवृत्ति को सजग करता है। गीता के सोलहवें अध्याय के पहले तीन श्लोक उन गुणों का वर्णन करते हैं जिनके विकास से सात्विक प्रवृत्ति जागृत होती है अर्थात् अभय, सहृदयता, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, दया, तेज, क्षमा, घृति, शौच, अद्रोह इत्यादि गुण केवल अभ्यास से ही प्राप्त किए जा सकते हैं। इसी प्रकार चौथे श्लोक में उन अवगुणों का वर्णन है, जिनसे शैतानियत जागती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, क्रूरता इत्यादि का त्याग भी अभ्यास से ही होता है। अभ्यास हेतु सर्व आधारभूत आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है। धन्य हैं वे बालक जिनको ब्रह्मचर्यावस्था में ऐसे माता-पिता एवं आचार्य मिले, जो इन गुणों का अभ्यास करते हुए अपने आचार-विचार में इन तत्वों को लाये।

इसी प्रकार संस्कृत का यह सुभाषित, 'मातृवत प्ररदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' भी एक बड़ा भारी पथ-प्रदर्शक है। आज के नव-

युवकों के सामने यह उभरकर आ रहा है कि वे इक्कीसवीं शती में क्या भूमिका निभायेंगे। वैदिक आदर्श के सामने सबसे ऊपर उन्हें पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण से उऋण होना है। पितृ ऋण से उऋण होने के खातिर ही तो भगीरथ ने प्रचण्ड तपस्या करके गंगा को शिव की जटा से मुक्त कराया था। आज देश को ऐसे समर्थ सशक्त संकल्पमय नवयुवकों की आवश्यकता है। अतः नवयुवकों का पहला कार्य भगीरथ जैसा व्यक्तित्व पैदा करना है। तत्पश्चात भगीरथ की तरह देश की समस्याओं से जूझने का है। तभी तो देश में सुख-शान्ति की गंगा का अवतरण होगा। देव ऋण से अर्थ है अपनी शक्तियों का स्वस्थ विकास करना और सबके हित में अपना हित समझना। जब यह भावना पैदा हो जाए तो फिर जीवन में लड़ाई-झगड़ा, अभ्यास तथा लोलुपता का स्थान रहता ही नहीं। मन, वाणी और कर्म पर स्वतः संयम होने लगता है, और जीवन में माधुर्य आता है। ऋषि यज्ञ से अर्थ है वेद, वेदान्त का अध्ययन और ब्रह्माण्ड के रहस्य का उद्घाटन, प्रह्लाद की भाँति सत्य मार्ग का अनुसरण, ध्रुव की भाँति शाश्वत दीप्ति की प्राप्ति। गाँधी जी से किसी ने पूछा कि आपके जीवन का क्या लक्ष्य है? गाँधी जी ने कहा—भगवान की प्राप्ति। प्रश्नकर्ता ने पूछा तो फिर आप हिमालय की कुटिया में क्यों नहीं जाते हैं? गाँधी जी ने कहा—मेरा भगवान दरिद्रों की कुटिया में रहता है। मैं उनकी खोज वहाँ करता हूँ। इसी प्रसंग में विवेकानन्द ने भी दरिद्रनारायण की सेवा-हेतु भारत के नवयुवकों का आह्वान किया।

आज भी हम दरिद्रनारायण के दर्शन करने हेतु अभावग्रस्त आदिवासियों की झोंपड़ियों में चलें तथा उनकी सेवा का व्रत लें।

शुरू कौन करेगा ?

१९७८ में राजकोट में हुए कुलपति-सम्मेलन के सम्मुख विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग ने देश की उच्च शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं को लेकर एक पत्र प्रस्तुत किया था। उसमें दिए गए आँकड़ों से पता चलता है कि राष्ट्रीय शिक्षा पर वार्षिक व्यय अढ़ाई अरब रुपये का है, शिक्षकों की संख्या ३५ लाख है, विद्यार्थियों की दस करोड़, प्राइमरी स्कूलों की संख्या ६ लाख है, माध्यमिक स्कूलों की संख्या ४० हजार, कॉलेजों की ४५०० और विश्वविद्यालयों की संख्या १२० है। लेकिन इस बड़ी भारी शैक्षणिक मशीन का लाभ केवल उच्च अथवा मध्य वर्ग की अल्प संख्या को ही प्राप्त है। दस वर्ष से ऊपर की अवस्था की आबादी का ६० प्रतिशत भाग शिक्षायन्त्र की सुविधाओं से वंचित है। छह वर्ष की आयु के बच्चों में से २० प्रतिशत को तो विद्यालय के दर्शन दुर्लभ हैं, ५५ प्रतिशत देर-सवेर स्कूल छोड़ देते हैं, केवल २५ प्रतिशत बच्चे ही आठवीं तक पढ़ पाते हैं। आय के लिहाज से ३० प्रतिशत परिवारों के बच्चे ही विश्वविद्यालयों के ८० प्रतिशत स्थान प्राप्त कर लेते हैं। माध्यमिक शालाओं में भी वे ही ७० प्रतिशत स्थान ग्रहण कर लेते हैं। गरीब तबके की वहाँ रसाई नहीं है।

फिर जो बच्चे स्कूल-कॉलेजों में प्रवेश पा लेते हैं, उनकी शिक्षा-दीक्षा कैसी होती है? शुरू से ही वे जात-पात, ऊँच-नीच के बन्धन में फँस जाते हैं। जो गरीब बच्चे स्कूल-कॉलेज नहीं जा पाते, उनसे ऊँचा तो वे अपने आपको समझते ही हैं, फिर इनमें आपस में भी बड़ा भारी वर्गीकरण है। ज्यादा अमीरों के बच्चे तथाकथित पब्लिक-स्कूलों में जाते हैं, फिर अन्य अंग्रेजी पाठ्यक्रम के स्कूल हैं। अहंकार अथवा हीनता तो इनकी घुट्टी में भर दी जाती है।

इन स्कूल-कॉलेजों में इन्हें परस्पर सहयोग, समाज के प्रति

जिम्मेदारी, समाज अथवा देश का इन पर क्या ऋण है, यह कुछ सिखलाना तो दरकिनार, इन्हें सिखलाये जाते हैं प्रतियोगिता के दाव-पेंच, दूसरों को पछाड़ने, दूसरे की कुर्सी छीनने की कलाएँ···इसे कहते हैं प्रगतिशीलता ! इन्हें यह नहीं बतलाया जाता कि माता-पिता के इन पर क्या ऋण हैं, समाज के इन पर क्या ऋण हैं, उन आजादी के परवानों के, जिन्होंने जान की परवाह न कर अपने ऐश-आराम को तिलांजलि देते हुए प्राणों की बाजी लगा दी, उनके इन पर क्या ऋण हैं। यह समझते हैं, माता-पिता तो अपना फर्ज अदा कर रहे हैं और समाज से उन्हें जो कुछ भी प्राप्त है वह तो उनका अधिकार मात्र है, बल्कि यह कि जो कुछ उन्हें मिल रहा है, वह उनके अधिकार से कम ही है। इसलिए वे उथल-पुथल करते हैं, उत्पात करते है, राष्ट्रीय अर्थात् स्वयं की सम्पत्ति नष्ट करते हैं।

पिछले ३० वर्षों में जो हुआ सो हुआ। उसकी दुहाई देना तभी सार्थक होगा यदि हम आज भी नयी दिशा में कदम उठाने को तैयार हों, वरना सन् २००० में वयस्कता प्राप्त करने वाली पीढ़ी हमें भी 'थोथा चना, बाजे घना' का प्रमाण-पत्र देकर तिरस्कृत कर देगी।

उपरोक्त राष्ट्रीय सम्मेलन में निम्न तीन आधारभूत मूल्यों पर जोर दिया गया था—

१. शैक्षणिक प्रक्रिया के एक अभिन्न अंग के रूप में कार्य विशेष के उपयोग द्वारा स्वावलम्बन, आत्मविश्वास और श्रम की गरिमा की भावनाओं का पोषण।

२. विद्यार्थियों और अध्यापकों को सामुदायिक सेवा के अर्थवान कार्यक्रमों में प्रवृत्त करके राष्ट्रीयता तथा सामाजिक दायित्व के बोध का विकास।

३. विद्यार्थियों के मानस में नैतिक, चारित्रिक व मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, सभी धर्मों की समझ और उनके प्रति समान आदर की भावना पैदा करना।

यह प्रस्तावित किया गया कि सामान्यत: शाला का ५० प्रतिशत समय उत्पादक, सृजनात्मक और मनोरंजन कार्यों को दिया जाये,

जिसमें कम से कम आधा समय पूर्णतः विभिन्न प्रकार के समाजोपयोगी उत्पादक कार्यों में लगे।

प्रश्न यह है कि ऐसा कौन-सा सृजनात्मक और मनोरंजक, उत्पादक कार्य हो सकता है जिसे बालक सहज में ही ग्रहण कर लेंगे ?

कहा है कि सफाई का दर्जा भगवान के निकटतम है। हमारे ऋषि-मुनियों ने यम-नियमों की गणना करते समय शौच को नियमों में प्रमुख स्थान दिया। यह भी सर्वविदित है कि जहाँ भारतीय शारीरिक और निजी शुचिता के प्रति जागरूक हैं, घर से बाहर नागरिक सफाई के प्रति उतने ही उदासीन हैं। जो भी विदेशी यहाँ आता है, वह हमारे प्रति आदर का भाव लेकर जाता है, ऐसा सोचना खुद फरेबी है।

तो क्यों न हम अपने विद्यालयों में पढ़ने वाली दस करोड़ सेना को इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित करें।

हर गाँव, हर नगर को वहाँ वर्तमान विद्यालयों के अनुसार क्षेत्रों में बाँट दें। प्रत्येक क्षेत्र की सफाई की जिम्मेदारी वहाँ स्थित विद्यालय की हो। प्रति शनिवार 'सफाई दिवस' के रूप में मनाया जाए। अध्यापकों एवं अभिभावकों के नेतृत्व में बालक-बालिकाएँ अपने-अपने विद्यालय को समर्पित क्षेत्र के कोने-कोने से कूड़ा-कचरा निकाल बाहर फेंकें, उसकी होली रचाएँ। तीन-चार घंटे श्रमदान के बाद, वे स्नानादि करके पुनः शाला में सम्मिलित हों—उन्हें दूध-जलेबी खिलाई जाए और वे स्वयं अपनी सफलता-असफलता का मूल्यांकन करें।

निश्चय ही इससे गाँधी जी की आत्मा सन्तुष्ट होगी। ऊँच-नीच की खाई मिटेगी, राष्ट्र में नव-समर्पित युवावर्ग की विशाल सेना तैयार होगी।

किन्तु पहल कौन करेगा ? राम का नाम लेकर शुरू कौन करेगा ?

जब ऋषि दयानन्द आये

हिन्दुस्तान की समस्या बड़ी गम्भीर है। यह एक महान् देश है, परन्तु यहाँ के वासियों ने देश की महानता से पूरा लाभ नहीं उठाया। वकौल एक अर्थशास्त्री के, भारत अमीर देश है, परन्तु यहाँ के लोग गरीब हैं। सम्पन्न घराने में गरीब कैसे ? यही भारत की पहेली और आज के दिन की एक ही समस्या है। गरीवी से दूसरी समस्याएँ खड़ी होती हैं। गरीवी से ही आपस की नीच दर्जे की होड़ शुरू होती है। गरीवी से नैतिक पतन होता है, भ्रष्टाचार का बोलवाला होता है। कुर्सी-दौड़ शुरू होती है। हर व्यक्ति, हर परिवार सहकारिता, सहयोग और सहप्रेम के रास्ते को छोड़ अपना उल्लू सीधा करने को अग्रसर होता है। आखिर पेट तो भरना हुआ।'वुभुक्षित: किं न करोति पापम्'। इसी से गुटवन्दी होती है। साम्प्रदायिक, प्रादेशिक एवं भाषा-सम्वन्धी झगड़े खड़े होते हैं। देश-विभाजन के आंदोलन चलते हैं। देश की सैनिक एवं सुरक्षा शक्ति का ह्रास होता है। तव ही तो विदेशी शक्तियाँ हमारे देश को ललचाई हुई निगाहों से देखती हैं। गरीवी सभी कमजोरियों की जड़ है। अत: गरीवी से सुलझना, गरीवी से छुटकारा पाना आज की पीढ़ी का एकमात्र कर्तव्य है, एकमात्र धर्म है।

स्वराज्य की लड़ाई के पीछे स्वतन्त्रता-प्राप्ति का ध्येय तो था ही। किसी भी देश के लिए किसी दूसरे देश का गुलाम होना उसके आत्म-सम्मान पर आघात ही है, लेकिन इससे अन्य कई कुपरिणाम निकलते हैं। परतन्त्र देश का आर्थिक शोषण होता है। उसकी जनता की उन्नति नहीं होती। उसका व्यक्तित्व घटता है, दृष्टिकोण अवनत होते हैं। सामाजिक कुरीतियाँ और अन्य बुराइयाँ पलती हैं। परावलम्बन से एक प्रकार का पक्षपात जड़ पकड़ता है।

इसीलिए तो गत शताब्दियों में राजा राममोहन राय और ऋषि दयानन्द आदि नेताओं ने पुनर्जागरण के आन्दोलन चलाये। यह उन्हीं

के आन्दोलनों का परिणाम था कि देश में जागृति और आत्म-सम्मान की लहर जोर पकड़ पायी। अंग्रेजों के अत्याचार और विशेषकर डलहौजी की देशी राज्यों को हड़प करने की नीति के फलस्वरूप पिछली शताब्दी के वर्ष सत्तावन में, देश में बड़े जोर का राजनैतिक झक्कड़ आया, जिससे कम्पनी बहादुर के राज्य की नींव हिल गई। इस महान् यज्ञ में देश की प्राय: सभी जातियों के वीरों ने आत्म-बलिदान की आहुति दी। हजारों लोगों ने अपना सर्वस्व बलिदान किया। लेकिन अंग्रेजी सैन्य का संचालन अधिक सुगठित था और उनको कतिपय देशी सरदारों की सहायता भी उपलब्ध थी। इस कारण देश का यह महान् यज्ञ तात्कालिक रूप से असफल रहा। हाँ, इतना फर्क जरूर हुआ कि देश के राज्य की बागडोर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के हाथों से निकलकर ब्रिटिश सम्राट के हाथों में आ गई। लेकिन भारत का शोषण बदस्तूर जारी रहा। भारत को निहत्था करने के लिए अंग्रेज ने यहाँ 'असलहा एक्ट' लागू किया जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को बन्दूक आदि हथियार रखने के लिए लायसेंस लेना लाजिमी हो गया। लायसेंस देने में सरकार ने कठोर नीति अपनाई। जाने-पहचाने राजभक्तों एवं सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त और किसी को भी हथियार नहीं दिये जाते थे। इससे देश की जनता में भय और डर का वातावरण बनना शुरू हुआ। साधारण व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए आत्मनिर्भर न होकर जैसे-तैसे अपना गुजर करने लगे। बदमाश लोग तो कहीं न कहीं से अपने लिए हथियारों का प्रबन्ध कर ही लेते हैं। मुश्किल शरीफ आदमियों को होती है। और बदमाश यह जानते हुए कि शरीफों के पास हथियार तो होंगे ही नहीं, उन पर हमला करने की जुर्रत कर पाते हैं। फिर यह तो स्वाभाविक ही है कि जिसके पास हथियार होंगे और विशेषकर आजकल के गगनभेदी नाद करने वाले हथियार, उसका हौसला बुलन्द होगा। हथियार वास्तव में शक्ति प्रदान करता है, भौतिक एवं मानसिक। 'असलहा एक्ट' से भारत के बच्चों में एक प्रकार से परावलम्बन की प्रवृत्ति और पकड़ने लगी।

फिर देश में सदियों से कुरीतियाँ घर कर रहीं थीं। देश का सामाजिक वातावरण बड़ा संकुचित था। उस देश में जहाँ सदियों पहले

ऋषियों ने पृथ्वी के आकार, नक्षत्रों की गतिविधियाँ, आकाश के विस्तार आदि के बारे में ऐसी जानकारी प्राप्त कर ली थी जो आज के यूरोपीय विद्वान भी सत्य मानते हैं। पंडितों ने काले पानी पार जाने पर निषेध लगा दिया—उस देश में जहाँ के पूर्वजों ने अपनी संस्कृति की छाप न केवल सुमात्रा, इण्डोनेशिया आदि पूर्व के देशों में लगाई, वरन् जिसकी संस्कृति से पश्चिम में मैकाले भी अछूता न रह सका—काले पानी पार जाने के अपराध में जातिच्युत कर दिया जाने लगा। ऐसे संकुचित वृत्ति वाले समाज में किसी की भी उन्नति क्योंकर होती? समाज को अपना ढाँचा स्थिर रखने के लिए कई प्रकार की कुरीतियों की शरण लेनी पड़ी। बाल-विवाह का न जाने कैसे रिवाज पड़ा। शायद स्थिरता के अभाव में लोगों ने सोचा कि लड़कियों की जिम्मेवारी से जितना जल्दी मुक्त हो जाओ अच्छा है। शायद इसलिए कि औसत आयु कम हो जाने से लोगों की इच्छा रहती है कि अपने जीते-जी बच्चों का विवाह हो जाये। कुछ भी हो, बाल-विवाह करने की प्रथा ही बन गई। फलस्वरूप बच्चों के बच्चे पैदा होने लगे। लोगों का स्वास्थ्य गिरने लगा। उस देश में जहाँ यदा-कदा साध्वी सतियाँ स्वेच्छा से अपने पतियों के साथ चिता की शरण लेती थीं। यह भी रिवाज पड़ गया कि विधवा स्त्रियों को पति के साथ जलने पर मजबूर किया जाये। कितनी अमानुषिक यह प्रथा थी! आज तो इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। उस देश में जहाँ केवल एक ब्रह्म की उपासना का मन्त्र पढ़ाया गया था, धर्म के नाम पर ठेकेदारी का रिवाज पड़ गया। महन्तों ने गद्दियाँ बना लीं और तरह-तरह के ढकोसले और प्रपंच रचकर जन-साधारण की कमजोरियों का लाभ उठाने लगे। कबरों और मूर्तियों की पूजा होने लगी। उनसे मुरादें माँगी जानी लगीं। हर प्रकार की मुरादें। बच्चे, लड़के, कारोबार में सफलता, नौकरी में तरक्की, दुश्मन पर विजय, मुहब्बत में कामयाबी, बीमारी का इलाज, झाड़-फूंक, ताबीज यंत्र, टोने—इन सब पर जनसाधारण का ऐसा विश्वास बैठा कि आज का विज्ञान-वृत्ति का मनुष्य इस पर हैरान होकर रह जाता है। यह सब उस देश में हुआ जहाँ ऋषियों ने शताब्दियों पहले उद्यम और पुरुषार्थ का यह गुर पढ़ाया था—

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

—अर्थात् "सब काम उद्यम से ही सिद्ध होते हैं, न कि मनोरथों से; सोये हुए शेर के मुख में मृग स्वतः ही नहीं चले जाते।"

चूंकि समाज विकासोन्मुख रहा, इसलिए जैसे-तैसे ढाँचा बरकरार रखने की प्रवृत्तियाँ बलवती होती गईं। नये रास्ते, नई बातें, नये तरीके असह्य हो गये। वर्णाश्रम व्यवस्था ने भी अवैज्ञानिक रूप धारण कर लिया। द्विज लोग जन्म के आधार पर अपनी सत्ता कायम रखने की कोशिश में रहे। ब्राह्मण-पुत्र चाहे चाण्डाल का ही काम क्यों न करे, वह ब्राह्मणत्व के अधिकार माँगता। चाण्डाल चाहे ब्रह्मनिष्ठ ही क्यों न हो, समाज उसे दुत्कारता। क्षात्र धर्म तो केवल गृहयुद्ध और आपसी ईर्ष्या-द्वेष और मारकाट तक ही सीमित रह गया। जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था का अभिप्राय समाज के संगठन को शक्तिशाली करना था, वहाँ अब वह झूठी मान-मर्यादा को स्थिर रखने का और आपसी वैर-भाव और नफरत बढ़ाने का साधन मात्र रह गया। समाज का एक बड़ा भारी तबका अस्पृश्य कहलाने लगा। कई प्रदेशों में तो वह न केवल अस्पृश्य था बल्कि यदि उसका साया भी किसी जन्मजात ब्राह्मण पर पड़ जाता तो हाहाकार मच जाता। बाद में जैसे अंग्रेजों ने भी किया, ऐसे लोगों के लिए कई सड़कों, कई राजपथों पर प्रवेश निषेध कर दिया गया।

ऐसी थी भारतवर्ष की दुर्दशा जब स्वामी दयानन्द हिमालय पर्वत की चोटियों पर योगियों की तलाश में पर्यटन कर रहे थे। कहते हैं ऋषिवर उस समय तक पूर्णरूपेण योगारूढ़ हो चुके थे—चौबीस घण्टे योग-समाधि में रहने का सामर्थ्य उन्हें प्राप्त हो चुका था। जीवनमुक्त इस दिव्यात्मा ने उस समय एक रम्य पर्वतीय स्थान पर खड़े होकर सामने व्योम में देखा तो प्रकृति का सौन्दर्य इतना मनमोहक मालूम हुआ कि वह आत्मविभोर हो गये। आत्ममग्न हुए उस दशा में उन्हें ऐसा भान हुआ कि पहाड़ की चोटी पर से कूदकर जीवन समाप्त कर देना ठीक होगा। तब तुरन्त ही उन्हें देश की अधोगति का विचार आया। उन्होंने 'इच्छामरण' का विचार त्याग मानव जाति के उद्धार का संकल्प किया।

तप ही साधन है

ब्रह्मचर्यसूक्त के पहले दो मन्त्रों में बतलाया गया है कि ब्रह्मचारी कौन है और वह किस प्रकार तप करता हुआ ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है और इस तरह क्या शक्तियाँ प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्यसूक्त के तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि जब ब्रह्मचारी आचार्य के पास वेदाध्ययन के लिए जाता है तो आचार्य उसे तीन रात्रि गर्भ में रहने की आज्ञा देता है।

"आचार्य यज्ञोपवीत देते हुए ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने ब्रह्मचारी को विद्या-रूपी माता के शरीर के अन्दर गर्भ रूप से धारण करता है। उसे तीन रातों तक उसी गर्भ रूप में रखता है। तब उसके उत्पन्न होने पर उसको देखने के लिए विद्वान् आते हैं।"

स्वामी श्रद्धानन्द इस मन्त्र पर टीका करते हुए कहते हैं कि यहाँ तीन रातों से अभिप्राय साधारण तीन रातों से नहीं है बल्कि ब्रह्मचर्य के तीन दर्जों से है। प्रथमतः २४ वर्ष जिसे पूरा करके ब्रह्मचारी वसु बनता है। जब वसु ब्रह्मचारी को २४ वर्ष के बाद गुरु घर जाने की आज्ञा देता तो श्रद्धा देवी उसे प्रेरित करके कहलाती है, अभी तो मैं उत्तर गुणों का वास कराने वाला ही बना हूँ। अभी प्रलोभन मुझे गिरा सकते हैं। मुझे विशेष साधना का समय दीजिए। शिष्य की योग्यता को देखकर आचार्य उसे तदनुसार आज्ञा देते हैं। तब ४४ वर्ष की आयु तक तपपूर्वक विद्या-भ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी रुद्र संज्ञा का अधिकारी बनता है। और उसकी वह प्रार्थना स्वीकार होती है जो उसने आश्रम में प्रविष्ट होते ही आचार्य से की थी—"मेरी बनावट चट्टान की तरह दृढ़ हो जाए।" अब वह ऐसा बलिष्ठ हो जाता है कि विषय और पाप उसकी बनावट से टकरा-टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और रोते हैं। उन्हें रुलाने का हेतु होने से ब्रह्मचारी रुद्र बन जाता है।

फिर भी उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। जब विषय और समीप

आते रहें, जब अंधेरा आस-पास घूम सके, तब भी गिरने का भय बना ही रहता है। इसलिए ऐसे सुबोध ब्रह्मचारी को जब गुरु समावर्तन की आज्ञा देते हैं तब वह फिर हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है, "भगवन्! अभी अन्धकार ने मुझे घेरना नहीं छोड़ा, आत्मा निश्चिन्त नहीं हुआ। इस पवित्र आश्रम द्वारा सावित्री माता के गर्भ में सुरक्षित होकर कुछ काल और निवास करने की आज्ञा मुझे प्रदान कीजिए।"

गुरु की आज्ञा से शिष्य तीसरी रात (अन्धकार से घिरी हुई अवस्था) भी गर्भ में बिताता है। तब उसके दृढ़ तप से अंधेरा दूर हो जाता है और वह सावित्री के गर्भ से बाहर आकर आचार्य को प्रणाम करता है। तब आचार्य उस ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भाँति देदीप्यमान देखकर आशीर्वाद देता है, "तू अब आदित्य है। तेरा प्रकाश स्थिर होगा। अन्धकार का हौसला ही नहीं पड़ेगा कि तेरे समीप पहुँच सके।" बस, तीसरी रात भी व्यतीत हो गई और ब्रह्मचारी का दिव्य तेज फैल गया और तब वह द्विज बनकर देव-पुरुषों से सम्मानित होकर उनमें शामिल हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि जो शिष्य को वसु ब्रह्मचारी बना दे और फिर रुद्र और तत्पश्चात आदित्य बनाने की भी योग्यता रखता है, ऐसा आचार्य कौन हो सकता है? ऐसा आचार्य वही हो सकता है, जो स्वयं तपस्वी हो। जो व्यक्ति स्वयं इन्द्रियों का दास हो, वह तो ऐसा आचार्य कदापि नहीं हो सकता। ऐसा आचार्य केवल वही हो सकता है, जिसने स्वयं इन्द्रियों पर पूर्णतः स्वामित्व प्राप्त कर लिया हो। जिसने उग्र तप के द्वारा अपने शरीर अथवा मन की शक्तियों को उद्भासित कर लिया हो, वही तपस्वी ब्राह्मण केवल आचार्य पद का अधिकारी है।

ब्रह्मचर्यसूक्त के चौथे मन्त्र में कहा है कि—"पृथ्वीलोक पहली समिधा है, दूसरी प्रकाशमान द्युलोक और तीसरी अन्तरिक्ष समिधा है। इन तीनों से ब्रह्मचारी यज्ञ को पूर्ण करता है। ब्रह्मचारी—(१) समिधा से, (२) मेखला से, (३) श्रम से (४) और तप से लोकों, विषयों की तृप्ति करता है।"

अर्थात्, ब्रह्मचारी को ज्ञान-अग्नि प्रदीप्त करने के लिए तीन समिधाओं की आवश्यकता होती है और वे तीन समिधाएँ हैं—पृथ्वी,

द्यौ ओर अन्तरिक्ष। इन्हीं के ज्ञान में सारा ज्ञान आ जाता है।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि भूमि ही इस आत्मिक यज्ञ को कार्यसिद्धि में आचार-स्वरूप होने से मुख्य साधन है। उस सर्व इन्द्रियों से ग्राह्य पृथ्वी और उसकी रचना से उठकर सूर्यादि प्रकाश लोकों का ज्ञान सम्भव है। यहाँ बाह्य इन्द्रियों में से केवल एक चक्षु इन्द्रिय की ही गम्यता है। यद्यपि यह प्रकाश गौण साधन है तथापि उस दूर-स्थित प्रकाश के विना निकटस्थ पृथ्वी के प्रत्यक्ष दर्शन कठिन ही क्या, असम्भव हैं। द्यौ इसलिए उत्तर रूप है। परन्तु पृथ्वी और द्यौ, इन दोनों का मेल कहाँ होता है? यदि अन्तरिक्ष न हो तो सूर्य का प्रकाश ब्रह्मचारी तक कौन पहुँचाये? इसलिए अन्तरिक्ष ही उन दोनों के मेल का स्थान है। पृथ्वी और द्युलोक की विद्या की प्राप्ति असम्भव है जब तक कि अन्तरिक्ष उन्हें परस्पर मिलाने वाला न हो। अन्तरिक्ष को विद्या से ही पहली दोनों विद्याओं का निश्चय होता है। ये तीनों इस शिक्षा-रूपी आत्मयज्ञ की तीन समिधाएँ हैं। इन्हीं तीनों का ज्ञान नित्य प्राप्त करने से आत्मयज्ञ की अग्नि प्रदीप्त रहती है।

अगला प्रश्न है कि इन तीनों समिधाओं से आत्मयज्ञ प्रदीप्त कैसे किया जाए? स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि उसके लिए श्रम की आवश्यकता है। उस श्रम-रूपी बल की प्राप्ति के लिए मेखला ही एक-मात्र साधन है। जननेन्द्रिय को स्वाद के प्रलोभन से बचाने के लिए ब्रह्मचारी मेखला धारण करता है। विना समिधाधान के मेखला धारण करने के योग्य नहीं हो सकता और विना मेखला धारण किए अर्थात् लंगोट बन्द हुए श्रमी नहीं हो सकता और उस 'श्रम' से ही अन्त में तप को प्राप्ति होती है। अतः सब लोकों को तृप्त करने का साधन तप ही है।

संसार के प्रलोभन ब्रह्मचारी को चारों ओर से घेरते हैं। विषयों की प्रबल शक्तियाँ उस पर सारे बल से प्रहार करती हैं। उसका मुकाबला अल्पजीव कैसे करें? कुछ लोग कहते हैं, उनका मुकाबला नहीं हो सकता, उन शक्तियों को तृप्त करने से ही वे ब्रह्मचारी का पीछा छोड़ती हैं। परन्तु प्रश्न उठता है—क्या भोग से उनकी तृप्ति होती है? मनुष्य अज्ञानवश समझता है कि वह विषयों को भोग रहा है। सही बात

यह है कि उलटा विषय उसका भुगतान करते हैं।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि जो लोग लगन से किसी मानसिक काम में लगे हुए हैं वे ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करते हुए भी महीनों और वर्षों तक बिना वीर्य-स्खलन के रह सकते हैं। इसी सिद्धान्त को आज के पश्चिमी मनोवैज्ञानिक 'सब्लीमेशन ऑफ सेक्स' के नाम से याद करते हैं। सौ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने इस विषय में लिखा था, "जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-रक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता, उसका वीर्य विचाराग्नि में ईंधनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है।"

यदि ब्रह्मचारी तप द्वारा श्रमी बनकर वीर्य-रक्षा द्वारा उस बल को दृढ़ कर ले और फिर अपनी सारी शक्तियों को पृथ्वी लोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक की विद्या को प्राप्त करने में एकचित्त होकर लगा दे तो फिर वह तप में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है और तपस्वी बनकर सर्व बाह्य शक्तियों को ऐसा तृप्त कर देता है कि वे उसको गिराने का साहस करने के स्थान में उसकी सहायक सिद्ध होती हैं।

महर्षि दयानन्द और जनसंख्या की समस्या

महर्षि दयानन्द राष्ट्र को मजबूत बनाना चाहते थे। वह जानते थे कि देश तभी सशक्त होगा जब सभी देशवासी सशक्त, सबल, हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी, ओजस्वी होंगे।

वह देश की निर्बल, असहाय, असमर्थ जनता को बलवान, स्वालम्बी, समर्थ बनाना चाहते थे। अत: जहाँ एक ओर उन्होंने समाज-सुधार के कार्यक्रम पर बल दिया, वहीं व्यक्तिगत सुधार पर भी उन्होंने यथेष्ट बल दिया। उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा समझी और आजन्म ब्रह्मचर्य के कठिन व्रत का पालन किया। सिद्ध का प्रमाण क्या? तभी वह ब्रह्मचर्य-पालन पर सदैव जोर दिया करते थे।

आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करना सबके लिए सम्भव नहीं। इसलिए व्यावहारिकता की दृष्टि से उन्होंने कहा—पहले २५ वर्ष तक प्रत्येक युवक और १६ वर्ष तक प्रत्येक कन्या को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इस अवस्था के बाद ही शादी होनी चाहिए।

वह चारों ओर देख रहे थे—छोटी उम्र की शादियों का अभिशाप, नर पशुओं की संख्या में वृद्धि, बच्चों के बच्चों की उत्पत्ति। इसका उन्होंने कड़ा विरोध किया। आज भी बाल-विवाह बन्द नहीं हुए। उनके शिष्य हरबिलास शारदा ने कानून बनवाया कि लड़कों की शादी १८ वर्ष से पहले और लड़कियों की १४ वर्ष से पहले नहीं होनी चाहिए। लेकिन जनमत ने इसे स्वीकार नहीं किया। बाद में शादी की आयु पुरुषों के लिए २१ और लड़कियों के लिए १८ कर दी गई, किन्तु जनमत के तैयार न होने के कारण यह अभी कोरे कागजी कानून ही हैं। फिर भी कानून का कुछ न कुछ असर तो होता ही है। लेकिन कानून को सफल करने हेतु भविष्यदृष्टा, आदर्शवादी, अग्रगामी समुदाय को सचेष्ट होकर जनमत तैयार करना होता है। वह नहीं हो रहा।

आर्य समाज को स्वामी दयानन्द ने अपने कार्यक्रम को बढ़ाने हेतु

एक सक्रिय संस्था के रूप में जन्म दिया था। आर्य समाज ने शुरू-शुरू में दयानन्द के कार्यक्रम को तेजी से आगे बढ़ाया परन्तु अब यह संस्था निर्जीव-सी हो गई है।

जिस पौराणिकता के विरुद्ध स्वामी दयानन्द ने युद्ध-भेरी बजाई थी, वही पौराणिकता अब आर्य समाज पर भी गालिब हो गई है। अस्तु, कोई वजह नहीं आर्य समाज लोकसभा में शादी की आयु २५ वर्ष तक बढ़ाने पर क्यों न जोर दे और साथ में उन कारणों पर विचार करे जिनसे 'शारदा एक्ट' कोरा कागजी एक्ट रह गया है। इस हेतु जन-जन में प्रचार करने के अतिरिक्त यह कानून भी बनाना होगा कि प्रत्येक विवाह कानूनन पंजीकृत हो। पंजीकृत वहीं विवाह होंगे जो कानूनन मान्य हैं। अतः २५ वर्ष से पहले का कोई विवाह पंजीकृत न होगा। और बाल-विवाह पर स्वतः यथेष्ट प्रतिबन्ध लग जाएगा। बाल-विवाह बन्द होंगे तो जनसंख्या की वृद्धि पर भी अंकुश लग जाएगा।

एक अन्य बात जिस पर स्वामी जी ने जोर दिया था, वह थी स्त्री-शिक्षा। आज भी देहात में चले जाइए या दलित वर्ग के लोगों को देखिये स्त्री-शिक्षा का कतई अभाव है। स्त्रियाँ सुशिक्षित होंगी तो बाल-विवाह भी बन्द होंगे और गृहस्थ लोग भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गृहस्थ में रहेंगे। बच्चे रुक-रुककर होंगे—समयानुकूल, सामर्थ्य के अनुसार। बच्चों की देख-रेख ठीक होगी। उनके स्वास्थ्य तथा आहार पर समुचित ध्यान दिया जाएगा। बच्चों की छोटी आयु में मृत्यु नहीं होगी। बच्चों की बाढ़ बन्द होगी।

आर्य समाज स्त्री-शिक्षा के कार्यक्रम में भी अग्रणी था, लेकिन तब जब आर्यसमाजी सच्चे अर्थ में आर्य थे।

बाल-विवाह बन्द हों, स्त्री-शिक्षा भरपूर हो, तो राष्ट्र क्यों न मजबूत होगा? लेकिन इस कार्यक्रम में आर्य समाज तभी योगदान दे सकेगा जब सभी सभासद ऋषि दयानन्द के आदेशानुसार श्रद्धापूर्वक आय का शतांश समाज को चंदा दें, जिससे समाज सक्षम होकर अच्छे वेतन पर विद्वान पुरोहित नियोजित करे और आधुनिक ढंग से प्रचार-प्रसार के कार्यक्रम में अग्रसर हो।

राष्ट्रीय शिक्षा के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द सरस्वती

अजमेर में मेरे पूज्य समधी सरदार कुलदीप सिंह के पुत्र अमरजीत ने पूछा, "अंकल, स्वामी दयानन्द, स्वामी विकेकानन्द के शिष्य थे क्या ?"

कुछ वर्ष पहले भारत के केबिनेट सेक्रेटरी श्री ग्रेवाल ने पूछा था, 'भाई साहब, वेदों में है क्या ?' उससे पहले भारत के शिक्षामन्त्री श्री नूरुल हसन ने कहा था, "आर्य समाज तो एक दकियानूसी संस्था है।"

ये हैं चुनौतियाँ आज के आर्य नेताओं के सामने। स्पष्ट है आर्य समाज के प्रचार की जो गति पहले ५० वर्ष में थी वह मन्द पड़ गई है। वक्त था जब आर्य सज्जन की गवाही सत्य की रेखा समझी जाती थी, अदालतें आर्य सज्जनों की साक्षी पर ही निर्णय देती थीं। आज आर्य समाज के सदस्य ही आपसी मुकदमेबाजी में उलझे हुए हैं। एक न एक पक्ष तो झूठा होगा ही। अदालतों में आर्य पुरुषों का सम्मान कैसे हो ?

स्वामी दयानन्द के निर्वाण के बाद तीन नवयुवक इकट्ठा हुए। रोने-धोने के बजाय, समाधि बनाने के बजाय उन्होंने स्वामीजी की याद में एक ऐसा स्मारक खड़ा किया जिसने देश में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात किया—मेरा अभिप्राय डी० ए० वी० कॉलेज से है। वे युवक थे—गुरूदत्त, लाजपत राय और हंसराज। वे केवल पुरानी संस्कृति के ही पुजारी न थे, वे आधुनिक सभ्यता के ज्ञान-विज्ञान की धारा में भी स्नान करना चाहते थे। अतः उन्होंने कॉलेज का नाम रखा—'दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज'। यह पूर्व-पश्चिम के मधुर-मिलन का प्रतीक था। आर्य समाज की सार्वभौम मित्रता का प्रतीक था। पुरातन और नवीन का संगम था।

इसी प्रकार जब कुछ वर्ष बाद गुरूदत्त और श्रद्धानन्द ने महसूस किया कि डी० ए० वी० कॉलेज के पाठ्यक्रम में वैदिक-शिक्षा का

यथेष्ट पुट नहीं है तो उन्होंने गुरुकुल प्रणाली की विचारधारा का सूत्र-पात किया और स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०० में गुरुकुल गुजरांवाला को स्थापना की जो १९०२ में कांगड़ी ग्राम में स्थानान्तरित हुआ।

कालान्तर में देशभर में गुरुकुलों और डी० ए० वी० संस्थाओं का जाल बिछ गया और इनसे निकले हुए सहस्रों-लाखों स्नातकों ने देश के हर क्षेत्र में वैदिक आचरण के मानदण्ड स्थापित किये। सत्य के लिए, न्याय के लिए, शुचिता के लिए, निर्भय होकर जिस प्रकार इन स्नातकों ने जगह-जगह छोटे-बड़े युद्ध किये, उनका इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त हो, बिलोचिस्तान-सिन्ध हो, काश्मीर-पंजाब हो, उत्तर प्रदेश-बंगाल हो, महाराष्ट्र-गुजरात हो, या फिर फिजी-मारिशस हो, ट्रीनीडाड-सुरीनाम हो, गुयाना-केनिया हो, लन्दन-अमरीका हो—सभी जगह दयानन्द के वीर सैनिकों ने लाखों छोटे-बड़े मोर्चे लिये और इस प्रकार मानव-जाति के उत्थान में अनुपम योगदान दिया।

भारत ने १८९६ से १९४६ तक लगातार ५० वर्ष तक स्वराज्य का द्वितीय घोर संग्राम लड़ा। उसमें दयानन्द के वीर सैनिकों ने रक्त के अक्षरों में अपनी भूमिका निभाई। कितने फांसी के तख्ते पर झूले, कितनों ने काले पानी की यातनाएँ भोगीं, कितनों ने जेल-यात्राएँ कीं, कितनों ने स्वराज्य की बलि-वेदी पर अपने कारोबार, परिवार निछावर किये, तब भारत स्वतन्त्र हुआ।

राजनैतिक दासता का अन्त तो हुआ लेकिन उसके साथ ही हमने बापू की आवाज को, जो दयानन्द के कार्यक्रम को ही लेकर चले थे, सदा के लिए शान्त कर दिया। वह भारत के लिए दुर्दिन था। एक युग समाप्त हुआ।

दयानन्द और गाँधी सन्मार्ग के पथिक थे। सीधा पथ चाहे काँटो भरा ही क्यों न हो, सदैव छोटा होता है। लेकिन मनुष्य के अन्दर जहाँ देव बैठा है वहाँ दानव भी विद्यमान है। दोनों में संघर्ष चलता रहता है। कभी दिव्यशक्ति प्रबल होती है, कभी दानवशक्ति। यही हाल राष्ट्रों का भी है।

दयानन्द और गाँधी आशावादी थे। आयु भर वह दानवी

शक्तियों से संघर्ष करते रहे और उस संघर्ष से जो ज्योति उत्पन्न हुई, उसने सर्वदिशा में उजाला किया जो बरसों तक कायम रहा और आगे भी रहेगा, चाहे कभी-कभार वह बादलों के आवरण में छिप ही क्यों न जाए।

सन्मार्ग की सबसे बड़ी कसौटी सत्य है। यही उन्होंने पुरातन ऋषियों से सीखा, यही उन्होंने जिया, यही उन्होंने जीकर अपने अनुयायियों को सिखलाया। सभी उन जैसे दृढ़व्रती नहीं हो सकते। अतः लड़खड़ाते ही सही, उनके अनुयायियों ने उनके दिखलाये पथ पर चलने का प्रयत्न किया, और जिस अंश तक वह सफल हुए, देश-समाज आगे बढ़ा।

आज फिर जरूरत है उनके सन्देश को समझने की। उन्होंने सिखलाया—सुपथ पर चलकर ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। कुपथ सर्वथा त्याज्य है। सत्य के साथ जुड़े हैं चार और यम—अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय। यह शब्द जिस-जिस भाव के मन्तव्य को परिलक्षित करते हैं उसको समझने-समझाने की जरूरत है। बड़े-बड़े मनीषियों ने, विचारकों ने इन पर गौर किया है, इनकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या की है। सरल शब्दों में, अहिंसा से केवल यही तात्पर्य है—प्राणी मात्र को अपने जैसा समझो, सबसे प्रेम का बर्ताव करो। जिस कार्य से आपको दुःख पहुँचता है, उससे आपके पड़ोसी को भी दुःख पहुँचेगा, वह कार्य त्याज्य है। हाँ, अहिंसा का यह अर्थ नहीं कि दुष्ट का दमन करने से डरो। वह कायरता होगी। या तो दुष्ट को बदलो, चाहे स्वयं कष्ट भोग कर ही सही। यदि उसका मानस बदल सकता है तो उसे बदलो, अन्यथा दुष्ट का संहार भी क्षम्य है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में, ब्रह्माण्ड में विचरण करना। ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज मानव का परम कर्तव्य है। उसके लिए साहस की, तपस्या की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया। यही दयानन्द और गाँधी ने भी करके दिखलाया।

अपरिग्रह और अस्तेय भी सन्मार्ग के लक्षण हैं। जरूरत से ज्यादा संग्रह मत करो। जो कुछ भी जगत् में भोज्य-पदार्थ हैं, सबके साझे हैं, बाँट कर खाओ। खुदगर्ज मत बनो। सौमनस्य से रहो। समाज

के नियमों का पालन करो। समाज के नियमों के पालन में सभी परतन्त्र रहें। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि समाज के नियम अनिष्टकारी हैं तो भी उनकी दासता करो। ऐसी परिस्थिति में उनको बदलने का प्रयत्न करो। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु सत्याग्रह का अस्त्र भी प्रयोग में लाया जा सकता है। लेकिन सत्याग्रह कहीं दुराग्रह में परिवर्तित न हो जाए, इसका ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

अस्तेय का अर्थ तो स्पष्ट है—करों की चोरी न करो, समय की चोरी न करो, कर्तव्य पालन करो। जो कुछ भी सत्य को, समाज को देय है, दो, हँसते-हँसते दो। यही धर्म-साधना का मार्ग है, यही सन्मार्ग है।

धर्म पूजा के कर्मकाण्ड में निहित नहीं है। शास्त्र में धर्म के जो दस लक्षण बतलाये हैं, वे आत्मानुशासन से ही प्राप्त होते हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध। यह शब्द भी जिस-जिस भाव को अथवा लक्ष्य को व्यक्त करते हैं, वह सुस्पष्ट है, किसी लम्बी-चौड़ी व्याख्या के मोहताज नहीं। हाँ, अन्तर्मुखी होकर मनन की आवश्यकता है, और फिर तदनुसार निरन्तर साधना की, अभ्यास की। सतत अभ्यास से इनके अर्थ स्वयं ही दृष्टिगत होते जाएँगे। इनके ही पालन में निज का तथा समाज का कल्याण है। यही धर्म है, यही पथ है और यही दयानन्द और गांधी का दिखलाया हुआ सन्मार्ग है। आज ऋषि की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर न केवल इसे फिर समझने-समझाने की आवश्यकता है, इस पर अमल करने के लिए दृढ़ संकल्प, व्रत लेने की आवश्यकता है।

ओ३म् अग्ने, व्रत पते, व्रतं चरिष्यामी, सत्यमुपैमि,
सत्यं वदिष्यामि, सत्यं चरिष्यामि। तच्छकेयं।

आजादी, पूर्ण आजादी

आजादी क्या आयी है, सभी आजाद होना चाहते हैं—पूर्णतः आजाद। किसी प्रकार का संयम, नियम अपने ऊपर नहीं चाहते। जंगल में स्वच्छन्द जन्तु की तरह समाज में विचरना चाहते हैं। जो चाहे करें। जिसको चाहे लूटें, चाहे जिस कुर्सी पर जा बैठें। जिसको चाहे जहाँ दे सकें नौकरी दें। जिससे जो चाहे दाम वसूल करें। चाहे तो क्लास में जाएँ चाहे न जाएँ। चाहे तो पढ़ाएँ चाहे न पढ़ाएँ और चाहे तो पढ़ें और चाहे न पढ़ें। परीक्षा में नकल करने की छूट हो तत्पश्चात परीक्षक को डरा-धमकाकर या लल्ल-चप्पो करके चाहे जितने अंक प्राप्त कर लें। जैसा चाहे बिल बनाएँ। बिना किसी के चैक के चाहेंगे कि पास हो जाएँ। आप हम पर अविश्वास करते है ? हमने तो हस्ताक्षर कर दिए हैं, हम जिम्मेवार हैं। तो फिर आपको काउंटर साइन करने में क्या आपत्ति है ? आप खामखा एकाउण्ट आफिसर को दिखलाकर न केवल मामला लम्बा करेंगे, मुझे भी उसके यहाँ कई चक्कर लगाने पड़ेंगे। एकाउण्ट आफिसर भी ऐसे मिलेंगे जो बिना चक्कर कटवाए बिल पास नहीं करेंगे। आखिर इस बीमारी का इलाज है क्या ? क्या 'सब चलता है' कहकर इसे चलने दिया जाए ?

जहाँ ऐसा चलता है वहाँ समाज समाज न रहकर जंगल बन जाता है—जहाँ बड़ा जानवर छोटे जानवर को खाता है, जबरदस्त कमजोर पर जुल्म करता है।

स्वामी दयानन्द ने कहा—मर्द वह जो साधु, गरीब को शैतान अमीर से, सात्विक मनुष्य को तामसिक दानव से, अच्छे शहरी को दुष्ट दस्यु से बचाए, चाहे दुष्ट दस्यु कितना ही ताकतवर क्यों न हो। ऐसे व्यक्तियों के कन्धे पर समाज खड़ा रह सकता है। ऐसे ही व्यक्ति धार्मिक कहलाते हैं।

धर्म वह है जो समाज को धारण करे। शास्त्रकारों ने धर्म के दस लक्षण गिनाए हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध।

वास्तव में इन्हीं गुणों पर समाज की आधारशिला प्रतिष्ठित है। जितनी मात्रा में समाज में रहने वाले व्यक्तियों का आचरण इन गुणों पर आधारित होगा उतनी ही समाज की जड़ें मजबूत होंगी और उतनी ही मात्रा में व्यक्ति सुख, शान्ति और समृद्धि के भागी होंगे।

समाज के स्थायित्व के लिए समाज में व्यक्ति की उन्नति के लिए यम-नियम का पालन अत्यावश्यक है। यम पाँच हैं— इन्हें गाँधीजी ने पंच महाव्रत कहा था—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह। नियम भी पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईशप्रणिधान।

ठीक है, इनको धारण करना आसान नहीं है, लेकिन लक्ष्य सुनिश्चित हो, ध्येय स्पष्ट हो तो साधक साधना करते-करते लक्ष्य की ओर अग्रसर होता ही है। इसमें तो दो राय नहीं हो सकतीं कि यही सन्मार्ग है, सुपथ है—अन्य नहीं।

जगत् में पर-उपदेश करने में तो प्रायः सभी कुशल होते हैं, लेकिन सत्य की खोज की कुंजी अन्तर्मुख होकर मनन करने में ही निहित है।

ऐसी स्थिति में ही सत्य के दर्शन होते हैं।

आर्य समाज के दसवें नियम में यही तो कहा है—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

यही है उन्नतिशील, अनुशासित, ऊर्ध्वगामी समाज की नींव जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को चरम सीमा तक पल्लवित, पुष्पित, प्रफुल्लित कर सकता है।

शिक्षा, रोजगार और विकास

लखनऊ विश्वविद्यालय में भारत के श्रम अर्थशास्त्रियों के रजत-जयन्ती समारोह में सम्मिलित होने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। इसकी अध्यक्षता कर रहे थे सुविख्यात अर्थशास्त्री गौतम माथुर। आजकल वह एप्लाईड मानक शक्ति संस्थान के निदेशक हैं।

उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—"आज देश में गरीब-अमीर के बीच की खाई को दूर करने की आवश्यकता है। यदि देश की आर्थिक प्रगति करनी है तो हमें अपनी आर्थिक नीतियों पर पुर्नविचार करना होगा। हमें विकास के सुनिश्चित पथ की खोज-हेतु अपनी शिक्षा-नीतियों, श्रम-संगठनों, पूँजी-नियोजन, कार्य-कौशल, उत्पादकता, जनसंख्या तथा मानव शक्ति सम्वन्धी प्रश्नों को नये मानदंडों के आधार पर तोलना होगा।

आज एक ओर तो श्रमिक वर्ग असमानता के गर्त में पड़ा कराह रहा है, दूसरी ओर धनिक वर्ग ऐशो-इशरत के माहौल में डूबा हुआ है, तीसरी ओर महत्त्वाकांक्षी गरीब लोग गरीबी के दानव से छुटकारा पाने हेतु प्रतियोगिता की अन्धाधुंध दौड़ में लगे हैं, इसी से समाज में विस्फोट की स्थिति पैदा हो रही है।"

अगले दिन शिक्षा, रोजगार और विकास पर गोष्ठी थी। इसमें प्रो० बिसारिया ने साक्षरता के कार्यक्रम को प्रवल करने की बात कही। श्री कृष्णमर्ति ने सुझाव दिया कि प्रशिक्षक के कार्यक्रम लचीले होने चाहिए। श्री देशपांडे ने कहा कि अब समय आ गया है जब हमें देश के सम्मुख ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम उपस्थित करने चाहिए।

प्रो० देशपांडे की बात उठाते हुए मैंने कहा कि आक्स ब्रिज मॉडल पर आधारित हमारी शिक्षा-नीति में तुरन्त सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। हम केवल रोजगार के नाकाबिल नौजवान तैयार कर रहे हैं और बिना सोचे-समझे सभी को कॉलेजों में प्रवेश देकर बेरोजगारी

के दुर्दिन को जरा दूर करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर रहे। हमने १०+२ के पाठ्यक्रम में हस्तकला के प्रशिक्षण को नाममात्र का स्थान दिया है। इसके स्थान पर हमें दत्तचित्त होकर सभी विद्यार्थियों को ८+४ के अन्तिम चार वर्षों में किसी न किसी कला-कलाप में दक्षता ग्रहण करने के सुअवसर उपलब्ध कराने चाहिए जिससे १२ श्रेणी समाप्त करने पर १८ वर्ष के ये नौजवान बैंक आदि से कर्जा लेकर अपने निजी धंधों में प्रवेश कर सकें और व्यर्थ सरकारी नौकरियों के चक्कर में न फँसें।

ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के दूसरे-तीसरे समुल्लास में विद्या के जिस कार्यक्रम का प्रतिपादन किया है उसके अनुसार विद्या केवल २ या ३ विषयों तक ही सीमित नहीं रहती। विद्या का लक्ष्य मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति करना है। अत: वेदशास्त्र की शिक्षा के अतिरिक्त उन्होंने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा अर्थवेद की शिक्षा का विधान प्रस्तुत किया। अर्थकारी विद्या प्राप्त करने से ही जहाँ एक ओर नवयुवकों की निजी समस्या हल होगी, वहाँ दूसरी ओर वे देश को अर्थव्यवस्था के विकास में समुचित योगदान दे पायेंगे।

हम देशव्यापी साक्षरता की बात तो वर्षों से करते चले आ रहे हैं किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में भी वांछित सुधार नहीं हुआ। इसके साथ ही कॉलेजों में प्रवेश चाहने वाले युवकों की बाढ़ से हम परेशान हैं। यह जानते हुए भी कि कॉलेज की शिक्षा उनके लिए विशेष लाभदायी न होगी, हम दबाव में आकर बेतहाशा कॉलेज खोलते जा रहे हैं। विदेशों में प्राय: १२ श्रेणी के बाद नवयुवक रोजगार में खप जाते हैं। कॉलेजों में बहुत कम लोग जाते हैं। हमने बहुत से रोजगारों के लिए बी० ए०, एम० ए० की शर्त लाजिमी रख छोड़ी है। इससे लोग बी० ए०, एम० ए० की डिग्री प्राप्त करना जरूरी समझते हैं और इसी दौड़ में अपने जीवन के कीमती वर्ष खो बैठते हैं। एक ओर तो हमें विभिन्न नौकरियों के लिए क्या आवश्यक गुण चाहिए उन पर नई दृष्टि से देखना होगा। पब्लिक सर्विस कमिशनों और सरकारी विभागों को सर्विस रूल यथेष्ट रूप से बदलने होंगे जिससे व्यर्थ कॉलेजों में प्रवेश की प्रवृत्ति थमे, दूसरी ओर हमें कॉलेज प्रवेश हेतु भी कुछ शर्तें लगानी होंगी।

एक शर्त यह हो सकती है कि जिस व्यक्ति ने कालेज में प्रवेश करना है, वह कम से कम एक वर्ष तक राष्ट्रव्यापी साक्षरता आन्दोलन में स्वयंसेवी के तौर पर कार्य करे, तभी वह कॉलेज-प्रवेश का अधिकारी हो सकता है। इससे हमें कई लाभ होंगे। एक तो साक्षरता आन्दोलन के लिए असंख्य नौजवानों की फौज उपलब्ध हो जायेगी। दूसरे, उन नौजवानों को देश के करोड़ों वदकिस्मत नागरिकों के बीच कार्य करने का मौका मिलेगा और उनकी संवेदनशीलता जागृत होगी। तीसरे, जब वे कॉलेजों में प्रवेश करेंगे तो उन्हें एहसास होगा कि कॉलेज-प्रवेश एक कमाया हुआ प्रिवलेज है जो सहज में सर्वसाधारण को उपलब्ध नहीं है। अतः कॉलिजों में जाकर दत्तचित्त होकर विद्याध्ययन करें और व्यर्थ तोड़-फोड़ की कार्यवाही में अपना समय और देश की अमूल्य सम्पत्ति नष्ट न करें। इससे विश्वविद्यालयों के अध्ययन-अध्यापन के वातावरण में वांछनीय सुधार आयेगा।

साक्षरता के सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि स्त्री-शिक्षा देशोद्धार के कार्यक्रम का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। स्त्री को शिक्षित करके हम एक पूरे परिवार को शिक्षित कर देते हैं, और बहुधा तो दो परिवार एक स्त्री-शिक्षा से लाभान्वित होते हैं। अभी तक हमारा ध्यान इस ओर यथेष्ट मात्रा में नहीं गया।

इसके साथ ही हमें इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि कॉलेजों में कितने दिन अध्ययन-अध्यापन होता है। क्या हम वर्ष में २०० दिन कार्य करते हैं? आज के कैलेंडर के अनुसार यदि अप्रैल-मई में परीक्षाएँ होती हैं, तो मार्च से पढ़ाई समाप्त हो जाती है। फिर कहीं अगस्त, सितंबर से जाकर पठन-पाठन का कार्य होता है। फिर सरस्वती यात्राएँ होती हैं, खेलकूद के कार्यक्रम रहते हैं, हड़तालें होती हैं, सो पठन-पाठन हेतु सौ दिन भी नहीं बचते। आखिर इस प्रकार विद्यार्थियों का शैक्षणिक स्तर कितना उत्पन्न हो पायेगा? आज अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का युग है। क्या उन्नत विदेशों के शिक्षा कार्यक्रमों पर हमने कभी नजर डाली है? क्या हम जानते हैं कि कनाडा, इंग्लैंड, जर्मनी में विद्यालयों में हड़तालें नहीं होती हैं? रूस में तो यह कानूनन बन्द है। यदि आपने हड़ताल करनी है तो कृपया विद्यालय से बाहर हो

जाइए, आपके लिए विद्यालय में कोई स्थान नहीं है। ठीक ही तो कहा है "विद्यार्थिन कुतः सुखम्, सुखार्थिनः कुतो विद्या। अध्यापकों के लिए तो यह नियम होना चाहिए कि काम करो और वेतन पाओ। यदि काम नहीं करना तो वेतन कैसा ?

आज इंसेट, टी० वी०, कैसेट का युग है। इन आविष्कारों से शिक्षा के साधनों में अद्भुत क्रान्ति हुई है। शिक्षा-प्रसार में इनका पूरा उपयोग करना चाहिए। इस सन्दर्भ से साक्षरता की भी उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती। महाराजा रणजीत सिंह और सम्राट अकबर साक्षर नहीं थे, किन्तु विद्वान थे, सुशिक्षित थे, बाखबर थे। आज का किसान भी इन्हीं साधनों के द्वारा सुशिक्षित, जागृत किया जा सकता है। इसके लिए विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को साफ्ट वेयर प्रोग्राम तैयार करने होंगे, जिससे इन साधनों के द्वारा जनसाधारण के समक्ष निरन्तर सही कार्यक्रम प्रस्तुत होते रहें।

एक अन्य प्रवृत्ति की ओर भी हमें विशेष ध्यान देना चाहिए, वह है सुशिक्षित पठित समुदाय का विदेश-गमन और प्रवास। लाखों रुपये खर्च करके हम डॉक्टर, इंजीनियर और योग्य विद्वान तैयार करते हैं, पर उनका लाभ उठाते हैं विदेशी राष्ट्र। हालात को देखते हुए उनके बहिर्गमन पर पूरी रोक तो नहीं लगाई जा सकती, लेकिन उनकी विदेशी आय का कुछ भाग वापस देश को पुनः प्राप्त हो, क्या ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता ? निश्चय ही इस आय से देश के शिक्षा-संस्थानों को यथेष्ट रूप से प्रबल किया जा सकता है और इस प्रकार ऐसे विद्यार्थी किंचित मात्र ही सही, देश के प्रति अपने ऋण से उऋण हो सकते हैं।

सबसे आवश्यक बात यह है कि शिक्षित समुदाय यह महसूस करे कि देश ने उनको शिक्षित करने हेतु इतनी अमूल्य पूंजी लगाई है। उनका भी देश के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। उनको केवल अपनी उन्नति से ही प्रसन्न अथवा सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, सबकी उन्नति में, सबकी भलाई में अपनी उन्नति और भलाई समझनी चाहिए।

यही सीढ़ी है—शिक्षा, रोजगार और विकास की। इसके सभी सोपान मजबूत हों तो देश मजबूत होगा और तभी मौजूदा संकट का निवारण होगा, भविष्य सुदृढ़ एवं सुन्दर होगा।

अपना रास्ता तो आपको स्वयं ढूँढ़ना है

आजकल के पढ़े-लिखे तबके में कई बार जनरेशन गैप की बात चलती है। कहा जाता है कि नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में बहुत अन्तर है। मेरी कमफहमी समझिए, मैं जनरेशन गैप की थ्योरी को समझ नहीं पाया। मैंने तो यह देखा है कि एक ही पीढ़ी के लोगों में कितना भारी बौद्धिक अन्तर होता है। कोई पाँचवीं शताब्दी की बात करता है, कोई मध्यकालीन युग में रहता है, कोई बीसवीं शताब्दी में रहता है और कोई-कोई विरला तो इक्कीसवीं शताब्दी में विचरता है। हाँ, एक बात मुझे जरूर समझ आती है कि नई पीढ़ी उस सड़क पर चलती है जो पिछली पीढ़ी ने बनाई है, भले ही एक कदम ही सही, नई पीढ़ी को आगे बढ़कर सड़क का निर्माण करना ही है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ उस सड़क पर अग्रसर हों। हँसते-खेलते करें, लड़ते-झगड़ते करें, अथवा सहयोग से करें, मानव के आगे के पथ का निर्माण करना ही है। इस प्रकार वर्तमान पीढ़ी अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्त होती है।

इसमें क्या शक है कि हमारी पीढ़ी पर हमारी अग्रज पीढ़ियों का बड़ा भारी ऋण है। हमारे पूर्वजों ने अपने रक्त से भारत की आजादी को सींचा है। हम रक्त न दें, पसीना तो दें, ताकि कुछ मात्रा में ही सही हम अपने ऋण से मुक्त हो सकें।

जब हम आधुनिक भारत के निर्माणकर्ताओं की गणना करते हैं तो उसमें ऋषि दयानन्द का नाम सर्वोपरि आता है। ऋषि दयानन्द ने भारत के प्रत्येक वर्ग पर कितने ही उपकार किये हैं लेकिन जो दिशा उन्होंने भारतीय समाज की स्त्री जाति का उद्धार करने में दी, उसको कभी नहीं भुलाया जा सकता। आज से सौ वर्ष पहले वह मलंग साधु अपनी पाखण्ड-खण्डिनी पताका लेकर भारत के अन्धकारपूर्ण समाज में उतरा था। उस वक्त स्त्रियों को पढ़ना-पढ़ाना तो दूर रहा, उन्हें पर्दे में,

बुर्के में रखा जाता था। वे घर से बाहर निकलतीं तो बुर्का ओढ़कर। वे ठीक प्रकार से देख नहीं सकती थीं, सुन नहीं सकती थीं, सूँघ नहीं सकती थीं, चख नहीं सकती थीं और बोल नहीं सकती थीं अर्थात् उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ सदैव कुंठित रहती थीं। उस समय के पौराणिक पण्डितों की व्यवस्था थी—"स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्" अर्थात् स्त्री और शूद्र को पढ़ना नहीं चाहिए।

ऐसी शोचनीय अवस्था थी हमारी बहनों की, हमारी बेटियों की, हमारी सहधर्मिणियों की। बाल-विवाह का रिवाज प्रचलित था। स्वास्थ्य की स्थिति इतनी गिरी हुई थी कि लोग युवावस्था में ही यमराज के शिकार हो जाते थे। देश में एक साल की, दो साल की, पाँच साल की विधवाओं की कोई गिनती ही नहीं थी। पति मर जाए तो बाल विधवा को जिन्दगी भर वैधव्य की अग्नि में जलना पड़ता था। कई जातियों में तो पुरुषों को कई पत्नियाँ एक साथ रखने का अधिकार था। वे चाहे जितनी पत्नियाँ करें, चाहें जितनी दासियाँ रखें, हर विवाह पर मनमाना दहेज लें, उस पर कोई प्रतिबन्ध न था। दहेज की कुप्रथा के कारण कन्या के जन्म पर घर में मातम छा जाता था और यह समझा जाता था कि गृहपति के ऊपर एक और डिग्री आ गई है।

स्वामी दयानन्द ने इन कुप्रथाओं का घोर विरोध किया। उन्होंने घोषणा की कि ये प्रथाएँ अवैदिक हैं, वेद-विरुद्ध हैं। वे 'सत्यार्थ-प्रकाश' में लिखते हैं—"नवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान एवं पूर्ण विदुषी स्त्रियाँ शिक्षा एवं विद्या दान करने वाली हों वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें।"

अथर्ववेद के आधार पर उन्होंने उद्घोष किया कि—"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करने के पश्चात् लड़की युवा पति को वरे।

इसी तरह मनुस्मृति के आधार पर उन्होंने कहा—यदि कन्या विधवा हो गई है तो उसे भी उसी प्रकार शादी करने का अधिकार है जिस प्रकार एक विधुर को दूसरी शादी करने का।

उनके अनुयायियों ने इन आदेशों को सहर्ष ग्रहण किया जिससे

देश में जगह-जगह आर्य कन्या पाठशालाओं की एक लहर-सी आ गई। उनके देखा-देखी अन्य मतावलम्बियों ने भी जगह-जगह कन्या पाठ-शालाओं की स्थापना की। इसके बाद तो स्त्री शिक्षा का भारत में खूब प्रचार हुआ। तत्पश्चात् जब महात्मा गांधी ने अपने शांतिपूर्ण अवज्ञा आन्दोलन में स्त्रियों को आमन्त्रित किया तो सैकड़ों नहीं, हजारों आर्य महिलाएँ हँसते-हँसते स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ीं और वर्षों तक अपने भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर विदेशी सरकार की लाठियों एवं गोलियों का सामना करती रहीं।

उनका यह तेजोमय, वीरोचित पराक्रम भारत की उच्चतम परम्पराओं के सर्वथा अनुरूप ही था। एक बार जब भारत की स्त्री जाति के मुँह से अन्धकार का पर्दा हट गया था, उसने अपने पुराने गौरव को पुनः प्राप्त किया। आज जब भारत पुनः प्रगति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर है हमें इस बात पर गहराई से विचार करना है कि हमारे सम्मुख क्या कर्तव्य हैं ?

आपने इस शिक्षा संस्थान में इतने वर्ष रहकर यहीं से बहुत कुछ पाया है। कभी आपने यह सोचा है कि आप कितनी भाग्यशाली हैं ? हालांकि गत वर्षों में भारत में स्त्री शिक्षा की दिशा में काफी प्रगति हुई है फिर भी असंख्य कन्यायें अभी भी इस प्रवाह से अछूती हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि आपकी आयु की कितनी कन्याओं को महाविद्यालयों में प्रवेश का अवसर मिलता है ? आपकी कितनी ही ऐसी अभागिन बहनें हैं जिन्हें जिन्दगी की दौड़ में आज भी बिना प्रारम्भिक शिक्षा के अग्रसर होना पड़ता है। प्रश्न उठता है कि क्या हमारा उनके प्रति कोई कर्त्तव्य है !

मैंने ऊपर दहेज की प्रथा का जिक्र किया था। हालाँकि ऋषि दयानन्द ने इस प्रथा के विरुद्ध अपनी शक्तिशाली आवाज सौ वर्ष पहले ही बुलन्द की थी लेकिन आज भी यह प्रथा हमारे समाज को घुन की तरह खाये जा रही है। हमें यह सोचना है कि क्या हमारा इस दिशा में कोई कर्तव्य है ?

बहुत वर्ष हुए भारतीय विधान सभा में हरबिलास शारदा द्वारा प्रस्तुत बाल-विवाह विरोधी कानून पास हुआ था। लेकिन आज भी देश

में कितने ही ऐसे समुदाय हैं जो बाल-विवाह से बाज नहीं आते। क्या इस दिशा में हमारा कोई कर्तव्य है ?

ऋषि दयानन्द के जीवन में एक घटना आती है। अमावस्या की अन्धेरी रात थी। उन्होंने दूर से एक भीड़ को आते देखा जो नदी के किनारे एक बालक को नहला रहे थे। पुरुष नाच रहे थे, स्त्रियाँ गा रहीं थी। एक माता बार-बार अपने लड़के को पकड़ने जा रही थी और लोग उसे धकेल देते थे। स्वामी जी उन लोगों के पास गए तो सुना कि आज अति पुण्य तिथि मणि अमावस्या है। काल भैरव की गुफा में इस बालक की नर-बलि दी जायेगी। उसके माता और वंश धन्य हो जायेंगे। पिता को पुजारियों की ओर से पचास रुपये प्राप्त हो गए थे, वह घोर शान्त था। लेकिन मूर्ख और अभागिन माता काल भैरव की इतनी बड़ी कृपा को नहीं समझी। हर वर्ष इस तिथि को एक बालक की बलि दी जाती है। इसमें रोने की क्या बात ? आज मध्य रात्रि को यह बालक बलिदान के साथ-साथ मनुष्य देह को छोड़कर गन्धर्व लोक को चला जायेगा।

ऋषि से यह दृश्य देखा न गया। बलिदान की शोभा-यात्रा के अन्दर जाकर उन्होंने पुरोहित से कहा कि कृपया इस बालक के बदले मुझे ले जाइये, बालक को छोड़ दीजिए। मैं भी ब्राह्मण-बालक हूँ। पहले तो वे नहीं माने लेकिन बाद में काल भैरव की गुफा में पहुँचने पर कापालिक से बातचीत करने के पश्चात् वे ऋषि की बलि देने के लिए तैयार हो गए। वह बालक उसकी माँ को वापस दे दिया गया। पुत्र को पाकर आलिंगन कर माता बेहोश होकर गिर पड़ी।

ऋषि को पुरोहितों ने स्नान करवाया, रक्त चन्दन बदन पर लगाया। फूलों की माला पहनाई, पुरोहित मन्त्र पढ़ने लगा। खड्ग की पूजा हुई। काल भैरव के आगे काठ की वेदी पर उनके सिर को रखकर पुरोहित लोग मन्त्र पाठ करने लगे। उन्होंने जनता को एक बार देखकर आँखें बन्द कर लीं और मरने के लिए तैयार हो गए। पुरोहित ने मन्त्र पढ़कर खड्ग घातक के हाथों में दे दी। उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गई। अब बलिदान बाकी है। लेकिन साथ ही अचानक बन्दूकों की गोलियों की तीन भयंकर आवाजें आईं। उनको सुनकर सब लोग भाग गये। तुरन्त वहाँ चार बन्दूकधारी आ गए। ये मरहठी फौज के लोग

थे। ऋषि ने सुना कि ये लोग अमावस्या की रात को नरबलि बन्द करवाने के लिए घूमा करते हैं।

आज भी कभी-कभी भारत के दूर-दराज स्थानों से इस प्रकार की अन्धकारमय लीला के समाचार प्राप्त होते रहते हैं। क्या इस दिशा में हमारा कोई कर्तव्य है ?

हम अपने इर्द-गिर्द ही देखें। समाजवाद का नारा बुलन्द किये हुए हमें लगभग पच्चीस वर्ष हो गये हैं। लेकिन हमारे बीच अभी इतनी असमानताएँ हैं कि हम अपने आपको सभ्य कहें तो यह आत्मवंचना ही होगी। एक ही प्रांगण में कोई पलंग पर सोता है तो कोई भूमि पर। कोई वातानुकूलित भवनों में रहता है तो कोई गन्दी-सड़ी झोंपड़ियों में निवास करता है। कोई नाटक, सिनेमा, ताश में अपना समय व्यतीत करता है तो कोई दिन रात चक्की पीसता है। क्या इन लोगों के प्रति हमारा कोई कर्तव्य है ?

बहुत वर्ष हुए हमने 'गरीबी हटाओ' का नारा बुलन्द किया था। इन वर्षों में भारत में बहुत अधिक उन्नति जरूर हुई है लेकिन अभी भी करोड़ों भारतवासी गरीबी की रेखा से नीचे ही हैं। क्या इनके प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य है ?

मैं आपसे अधिक कुछ नहीं कहूँगा। केवल इतना ही कहूँगा कि आप यह मत समझिए कि आपकी शिक्षा समाप्त हो गई। आपकी शिक्षा तो अब आरम्भ हुई है। जो कुछ आपको इस महाविद्यालय की योग्य अध्यापिकाओं द्वारा प्राप्त हुआ है वह केवल ज्ञान की कुंजी है। उन्होंने आपकी आँखें खोलने का प्रयास किया है। अपना रास्ता तो आपको स्वयं ढूंढ़ना है। बस यही मेरा आशीर्वाद है।

औपचारिक तौर पर ऋषि के शब्दों में इतना और कह दूँ कि "तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होकर पढ़-पढ़ा। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को मत छोड़। देव, विद्वान और माता-पिता की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान की सेवा करे उसी प्रकार माता-पिता और आचार्य की सेवा करे। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्यभाषणादि को किया कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात्

धर्मयुक्त कर्म हैं उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। धर्मयुक्त कर्म कर, जो पापाचरण हैं उनको कभी मत कर। जो हमारे मध्य में उत्तम विद्वान धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म व शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय हो तो जो समदर्शी पक्षपातरहित हों, योगी आर्द्रचित्तधर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा हों जैसे वे धर्म मार्ग में वरतें वैसे तू भी उनमें वरता कर। यही वेद की, उपनिषद् की शिक्षा है।"

जर्मन ब्राह्मणों के बीच

हैम्बर्ग के डॉक्टर जोगेन्द्र मल्होत्रा के सौजन्य से लूनीबर्ग की ईस्ट एकेडमी में चल रहे सेमिनार में बरमिंघम के तेरहवें कॉमनवैल्थ विश्वविद्यालय सम्मेलन के निष्कर्षों एवं तीसरी दुनिया की शिक्षा समस्याओं पर मुझे 'अध्यापकों की संगोष्ठी' में चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

मैंने उन्हें बतलाया कि इंग्लैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि में आज कार्यरत सज्जनों के ज्ञान और कौशल अप-टू-डेट करने की समस्या है। विज्ञान और तकनीकी विद्या जिस गति से वृद्धि कर रही है, कार्यरत लोगों को अपनी नौकरियाँ सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने कौशल को निरन्तर बढ़ाते रहें। वरना वह पिछड़ जाते हैं। इसलिए इन देशों में एक ओर तो ज्ञान-विस्तार हेतु नवीन श्रव्य-दृश्य साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। दूसरी ओर छोटे-छोटे कोर्स चलाए जा रहे हैं, ताकि जिज्ञासु लोग यथासम्भव अपनी ज्ञानवृद्धि करते रहें। इंग्लैंड में तो अब पुनः दो वर्ष के डिग्री कोर्स जारी करने की बात चल रही है, क्योंकि डिग्री की उपादेयता अब केवल इस बात में है कि ज्ञान-भण्डार से ज्ञान अथवा जानकारी कैसे उपलब्ध की जाए, न कि ज्ञान कण्ठस्थ कराने में।

कम्प्यूटर क्रान्ति ने शिक्षा और ज्ञान के मानदण्डों को ही बदल दिया है।

इसके विपरीत हमारे देश में अभी तक निरक्षरता और अज्ञान की समस्या गम्भीर रूप में उपस्थित है। साक्षरता लाने-लाने में तो हमें वर्षों लग जाएँगे। किन्तु अब श्रव्य-दृश्य साधनों में असाधारण क्रान्ति होने से तथा सैटेलाइट के आ जाने से जनसाधारण में ज्ञान का विस्तार करने हेतु साक्षरता पर निर्भर रहना अनावश्यक और पौराणिक-सा हो

गया है। हाँ, हमें इन द्रुत और कीमती साधनों का उपयोग करने हेतु उच्चकोटि की शिक्षा-सामग्री तैयार करनी होगी और इस दिशा में भारतीय विश्वविद्यालय एक महान् भूमिका निभा सकते हैं।

मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि आक्सब्रिज माडल से असन्तुष्ट होकर स्वामी दयानन्द से अनुप्रेरित होते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०० में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। वैदिक वाङ्मय की शिक्षा के साथ-साथ उनका अभिप्राय आधुनिक विज्ञान से भी स्नातकों को पूर्णतः अवगत कराने का था—और इसमें उन्हें यथेष्ट सफलता भी प्राप्त हुई।

हाँ, साधारण विश्वविद्यालय अभी तक अनुसन्धान और शिक्षा के क्षेत्र में ही दत्तचित्त रहे हैं। विस्तार के क्षेत्र की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इस ओर सर्वप्रथम भारत के कृषि विश्वविद्यालयों का ध्यान गया और हाल में भारत में जो हरित-क्रान्ति हुई है उसमें यह प्रवृत्ति एक प्रमुख अंग बनकर सामने आई। कृषि स्नातकों ने भारत की कृषि-विस्तार सेवाओं के असंख्य कर्मचारियों को नेतृत्व देकर कृषि अनुसंधान की उपलब्धियों को खेतीहर किसानों तक पहुँचाया और आज भारत का सजग कृषक समुदाय अपनी उन्नत खेती पर गर्व कर सकता है।

इसी प्रकार अब साधारण विश्वविद्यालय भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रबल नेतृत्व में अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार जनसाधारण में ज्ञान प्रसार करने हेतु कृतसंकल्प हो रहे हैं। इसी से 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की सूक्ति यथार्थ हो पायेगी।

मैंने उन्हें गंगा योजना और हिमालय योजना के बारे में भी बतलाया।

गोष्ठी में मुझसे पैने प्रश्न पूछे गए। एक अध्यापक ने पूछा कि आपका देश इतना गरीब है, फिर आप अणु बम पर करोड़ों रुपया खर्च करते हैं? मैंने कहा कि सर्वप्रथम हम स्वावलम्बी बनना चाहते हैं। क्यों न वैज्ञानिक इस दौड़ में भी विश्व के वैज्ञानिकों के साथ कन्धा मिलाकर चलें? दूसरे, हमारे आणविक प्रयोग शान्ति के लिए हैं न कि युद्ध के लिए। तीसरे, इनसे हमें ऊर्जा उपलब्ध होगी। इसके साथ-साथ ही हम

अपने स्पेस अनुसन्धान के कार्यक्रम को भी बढ़ावा दे रहे हैं। इससे हम सस्ते में करोड़ों अशिक्षित लोगों तक ज्ञान ज्योति फैला सकेंगे। वातावरण के सम्बन्ध में हमें जो ज्ञान उपलब्ध होगा वह कृषकों तक पहुँचाकर उनका मार्ग-दर्शन कर सकेंगे। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ भी अधिक वास्तविक बनेंगी, इत्यादि।

एक प्रश्न के उत्तर में मैंने उन्हें बतलाया कि गुरुकुल का लक्ष्य तो सर्वांगीण शिक्षा देना है न कि केवल तीन विषय पढ़ाकर स्नातक की डिग्री प्रदान करना। हमारे ब्रह्मचारी १७-१८ वर्ष गुरु के गर्भस्थ रह कर वेद-वेदांग के अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों अथवा उपवेदों का ज्ञान प्राप्त करें, ऐसा हमारा लक्ष्य है। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद सिखलाने का भी प्रावधान है। एक अध्यापक को सर्वांगीण शिक्षा का यह लक्ष्य बहुत पसन्द आया और कहने लगा कि विश्वविद्यालय को डिग्री प्राप्त युवक निर्माण की बजाय सर्वकला सम्पूर्ण युवक तैयार करने चाहिएँ, तभी गुरु सही अर्थ में गुरु कहलाने योग्य होंगे और गुरुकुल सार्थक होंगे।

भारत के विरुद्ध कितना मिथ्या प्रचार हो रहा है, इससे स्पष्ट हुआ, जब एक अध्यापक ने कहा कि भारत में अभी भी अकाल से जन-साधारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऐसा चीन में नहीं होता। मैंने उत्तर दिया कि चीन का तो कोई क्या जाने। चीन में खुला आवागमन नहीं है किन्तु भारत तो एक खुली किताब है। आइये, और स्वयं देखिए। सन् १९५० के मुकाबले में हमारे यहाँ अब ३.५ करोड़ टन की बजाय १३ करोड़ टन अन्न पैदा हो रहा है। अतः हर राज्य में अन्न के भण्डार स्थापित हो चुके हैं, और रेल और यातायात के साधन इतने अच्छे हैं कि जब कभी वर्षा के अभाव के कारण कहीं सूखा पड़ता है तो फौरन वहाँ अनाज पहुँचा दिया जाता है। अपौष्टिक अथवा असन्तुलित आहार की बात हो सकती है, लेकिन अनाज के अभाव में किसी की मृत्यु होना अब भूतकाल की कहानी हो गई है।

"आप पड़ोसियों को डराते बहुत हैं।" एक ने कहा। मैंने बताया डराने की बात भी प्रोपोगैण्डा मात्र ही है। हम तो दक्षिण एशिया में

शान्ति और परस्पर सहयोग चाहते हैं। डराते तो वह हैं जो भारत के महासागर में आणविक अड्डे बना रहे हैं और युद्ध की सामग्री तैयार करने पर अरबों रुपये खर्च कर रहे हैं। जैसा कि बरमिंघम में राष्ट्र-मण्डल विश्वविद्यालय सम्मेलन का उद्‌घाटन करते हुए…श्री रामफल, सैक्रेट्री जनरल, राष्ट्रमण्डल, ने कहा था, इस धनराशि से करोड़ों वंचित लोगों की स्वास्थ्य की, पेयजल की, शिक्षा की, प्रदूषण की समस्याएँ हल हो सकती हैं। लेकिन पश्चिम राष्ट्रों में तो आयुध निर्माण की होड़ लगी है। पश्चिमी देश अपनी सुरक्षा हेतु आयुध निर्माण करें, लेकिन वह तो तीसरे विश्व के देशों में आयुध बेचते हैं और एक देश में दूसरे देश के प्रति भय और आशंका पैदा करते हैं, जिससे उनके आयुध निर्माण के कारखाने चलते रहें। इससे विश्व में विस्फोटक स्थिति तो पैदा होती है, साथ में अरबों रुपये निर्माण-कार्यों की बजाय विध्वंसक कार्यों में नष्ट होता है।

जर्मनी में नाटो के लिए अस्त्रों का बेस बनाने से काफी खलबली है, ऐसा प्रतीत हुआ। प्रबुद्ध जर्मन विचारक अपने आपको इस विषय में असहाय-सा पाते हैं। वह कहते हैं, ऐसे बेस जर्मनी की बजाय अमरीका में क्यों नहीं बनाये जाते हैं। अतः यहाँ भी विश्व शान्ति आन्दोलन दबी-दबी आवाज में सही, पनपता नज़र आता है। जर्मन लोगों ने गत महायुद्ध में बहुत बरबादी देखी। नगरों के नगर तबाह हुए। जानो-माल का अनगिनत नुकसान हुआ। वह इस नाटक को दोहराना नहीं चाहते। लेकिन क्या करें? आज उनकी स्थिति दयनीय नज़र आती है।

उन्होंने गत तीस वर्षों में अपने देश को पुनः आर्थिक उन्नति के शिखर पर ला खड़ा किया है, यह निर्विवाद है। इसमें बाहरी सहायता के अलावा जर्मन कला-कौशल को भी श्रेय देना होगा। जर्मन लोग मेहनती हैं, पुरुषार्थी हैं, ज्ञानी हैं, कला-कौशल में सिद्धहस्त हैं। यहाँ ज्ञान और कर्म का यथेष्ट मेल है। इसलिए जर्मनी आज पुनः विश्व के समृद्ध देशों में गिना जाता है। लेकिन मानवता का यहाँ भी ह्रास होता जा रहा है।

साधारण जर्मन भयभीत है, और साथ में यहाँ प्रतियोगिता की

होड़ इतनी बढ़ती जा रही है कि मानव मानव-भक्षी बनता जा रहा है। हरेक व्यक्ति अपनी दौड़ में व्यस्त है। पड़ोसी, साथी सहयोगी के लिए किसी के पास समय नहीं है। अभी भी विदेशियों को यह लोग अनादर की दृष्टि से देखते हैं। उनके लिए उन्नति के स्थान अवरुद्ध हैं।

यही स्थिति इंग्लैंड में भी दृष्टिगत हुई। हाँ, आयरलैंड में भारतीयों के प्रति श्रद्धा है।

ऐटनबरो की 'गांधी' फिल्म की चर्चा होनी ही थी। लोगों की समझ से बाहर है कि अहिंसा से हिंसा पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है। गांधी एक अजीबोगरीब व्यक्तित्व का मालिक था अवश्य, पर उसकी प्रणाली उसका दर्शन व्यावहारिक हो, ऐसा नहीं समझा जाता। यहूदियों को उसने शान्तिपूर्वक असहयोग और सत्याग्रह का मन्त्र दिया था, परन्तु जैसी स्थिति तब थी, उससे यह मन्त्र कोरा कागजी पत्र ही सिद्ध होता है। और हुआ भी ऐसा, यह उनका मन्तव्य था।

हिटलर का नाम लेने से यह लोग संकोच करते हैं। मैंने जब हिटलर द्वारा प्रतिपादित आर्यजाति और स्वस्तिका का जिक्र किया तो यह लोग चौंके। मैंने जब भारत के स्वाधीनता-संग्राम में दोनों विश्व महायुद्धों में जर्मन सहायता का वर्णन किया तो यह लोग चकित हुए। हाँ, साहित्य के क्षेत्र में जर्मन अनुसन्धान के प्रयत्नों का इन्होंने स्वागत किया।

इस दिशा में भारतीय और जर्मन बुद्धिजीवी मिलकर अनुसंधान करें तो बहुत से अन्य तथ्य उभरकर सामने आएँगे और भारत और जर्मनी के मध्य एक सेतु स्थापित हो पायेगा जो दोनों के लिए कल्याण-कारी सिद्ध हो सकता है।

इसी विषय को लेकर भारत की विदुषी, कौंसिल जनरल, श्रीमती कुमार से भी लम्बी-चौड़ी बात हुई। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के कार्यक्रम में दिलचस्पी प्रकट की और चाहा कि मैं उन्हें इस सम्बन्ध में पूर्ण सामग्री भेजूँ ताकि वह यहाँ के बुद्धिजीवियों के साथ विस्तार से विचार विमर्श कर सकें।

लन्दन में स्कूल आफ ओरियेंटल और अफ्रोकन स्टडीज के डायरेक्टर प्रो० कोवन ने बताया था कि अब वहाँ संस्कृत में दिलचस्पी कम हो गई है। कारण कि इससे किसी को रोजी कमाने में कोई लाभ नहीं। हाई कमीशन के शिक्षा अधिकारी श्री मुखर्जी ने बताया कि वहाँ आयुर्वेद में जरूर दिलचस्पी है और यदि हम लन्दन में संस्कृत के प्रति रुचि पैदा करना चाहते हैं तो लन्दन विश्वविद्यालय में आयुर्वेद की चेयर प्रतिष्ठित करनी चाहिए। उसके द्वारा संस्कृत में पुनः रुचि जागृत की जा सकती है। अभी भारत सरकार स्कूल आफ ओरियेंटल स्टडीज को केवल ७५० पौंड वार्षिक अनुदान देती है जो कुछ भी न देने के बराबर है। कम से कम १२,००० पौंड तो देना ही चाहिए, जो एक लेक्चरर का वेतन है। इसी प्रकार दोनों देशों के मध्य विद्वान् प्रोफ़ेसरों के आवागमन की व्यवस्था करनी चाहिए।

यह जानकर मुझे कोई अचम्भा नहीं हुआ कि बहुत से जर्मन और अंग्रेज अध्यापकों ने वेदों का नाम तक नहीं सुना। स्वामी दयानन्द की बात तो दूर रही। जब मैंने उन्हें बताया कि दयानन्द मार्टिन लूथर की तरह सुधारक था और आर्य समाज का आन्दोलन प्रोटेस्टेंट के आन्दोलन की तरह सुधार आन्दोलन है तो उनकी जिज्ञासा कुछ जगी। जब मैंने उन्हें बताया कि दयानन्द कार्लमार्क्स का समकालीन था और यह कि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक मार्ग साम्यवाद और पूंजीवाद के मध्य का मार्ग है जिसमें व्यक्ति के सम्मान और समाज के हित दोनों की सुरक्षा की व्यवस्था है तो उनकी जिज्ञासा और तीव्र हुई।

स्पष्ट है कि वेद का संदेश विश्व में फैलाने के लिए वेद के झण्डाधारियों को अभी बहुत तपस्या और तैयारी करनी है। सर्वप्रथम तो वेद के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करने हैं, फिर वेद के दूत विभिन्न देशों में भेजने हैं। तभी जाकर कहीं वेद-प्रचार होगा।

इस विषय पर मेरी नैरोबी के प्रतिष्ठित आर्य नेता पण्डित सत्यदेव जी और आर्य समाज लन्दन के प्रधान प्रोफेसर भारद्वाज से भी बातचीत हुई। यह दोनों भी इसी विचार के हैं। प्रो० भारद्वाज मेरे साथ लन्दन ओरियेंटल स्कूल भी गए और वह इस सम्बन्ध में बातचीत का सिलसिला जारी रखेंगे।

अन्त में यह उल्लेख करना चाहूँगा कि जिस मोहल्ले में प्रो० मल्होत्रा रहते हैं वहाँ के चर्च के लिए सभी मोहल्लावासियों को जबरन टैक्स देना पड़ता है। श्रीमती रूथ मल्होत्रा जर्मन ईसाई विदुषी हैं। वह इस चर्च की सदस्या हैं और उन्हें प्रतिमास अपनी आय का २.५% करके रूप में इस चर्च को देना पड़ता है। इसी आय से चर्च का कारोबार चलता है और चर्च अपनी विचारधारा प्रसारित करने में सफल होता है।

यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि ब्रेसेल्ज़ में जिस होटल में हमें यूरोपियन टूर के दौरान ठहराया गया था वहाँ बाइविल के उद्धरणों को लेकर चार भाषाओं में प्रकाशित एक ग्रन्थ रखा हुआ था। उस पर लिखा हुआ था—यह प्रति आपकी है, ले जाइए। हाँ, अमुक संस्था को इसके प्रकाशन व्यय हेतु तीन डालर भेज दीजिए।

क्या गुरुकुल काँगड़ी का आर्य समाज भी इस प्रकार का कार्य हाथ में ले सकता है? जब ऐसा हो सकेगा तभी हम ऋषि के ऋण से उऋण होंगे।

तेरहवां राष्ट्रमण्डल विश्वविद्यालय सम्मेलन

मैं और राजकोट विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर दवे ग्यारह अगस्त की शाम को ६ बजे बरमिंघम न्यू स्ट्रीट स्टेशन पर पहुँचे। विश्वविद्यालय का लाल कुर्ती वाला एक स्वयंसेवक स्टेशन पर उपस्थित था। उसने हमें हाई-हॉल छात्रावास की टैक्सी कर दी।

हाई-हॉल पर तो कितने ही लाल कुर्ती वाले स्वयंसेवक उपस्थित थे। रजिस्ट्रेशन कार्ड दिखलाने पर फौरन कमरे की चाबी ले आये। हमारा सामान अपने-अपने कमरे में पहुँचा दिया गया।

मुझे १२वीं मंजिल पर १२१२ नम्बर का कमरा मिला। मेरे साथ ही तमिल विश्वविद्यालय के प्रो० सुब्रह्मण्यम ठहरे हुए थे। तत्काल ही चांसलर-सर पीटर स्कॉट की ओर से रिज-हॉल में रिसेप्शन था। फौरन तैयार होकर वहाँ पहुँचे। बहुत से भारतीय डैलीगेट आए हुए थे। सबसे मुलाकात हुई।

१२-१३ अगस्त को विश्वविद्यालय कैम्पस में कुलपतियों का सम्मेलन था। लीवर ह्यूम रिपोर्ट पर बहस हुई। इंग्लैण्ड में लीवर ह्यूम एक विख्यात ट्रस्ट है। इन्होंने इंग्लैण्ड की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं की जाँच हेतु एक समिति नियुक्त की थी। उसी समिति की यह रिपोर्ट कुलपतियों के सम्मुख विचार हेतु प्रस्तुत हुई। लीवर ह्यूम रिपोर्ट में अब ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों को फिर से दो वर्ष का डिग्री कोर्स अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है। हमारे यहाँ तो कई विश्वविद्यालयों ने १२ + ३ की प्रणाली स्वीकार कर ली है। कई अभी भी १२ + २ के कोर्स पर कायम हैं। उत्तर प्रदेश में अभी भी १२ + २ ही चल रहा है।

मुझे याद है १९६३ में जब दिल्ली कुलपति सम्मेलन में १२ + ३ का प्रस्ताव उपस्थित हुआ था तो कई कुलपतियों ने कहा था कि हम

सभी १२+२+२ की उपज हैं। १२+३+२ की ऐसी क्या उपयोगिता होगी, समझ से बाहर है। अब फिर इस विषय पर बरमिंघम में संवाद हुआ तो कइयों ने ठीक ही कहा—१२+२ हो अथवा १२+३ हो, यह निरर्थक है—देखना यह है कि २ वर्ष अथवा ३ वर्ष की अवधि में विद्यार्थी कितना अध्ययन करता है ? कितने दिन पठन-पाठन होता है ? यदि ३ वर्षों में ६-६ मास विश्वविद्यालय बन्द रहें तो ३ वर्ष का लाभ क्या हुआ ? यदि २ वर्ष में विद्यार्थी २००-२५० दिन काम करे तो अधिक लाभ होगा।

इस सन्दर्भ में कनाडा का प्रयोग भी प्रस्तुत हुआ। वहाँ ३ वर्ष की पाबन्दी इस प्रकार है कि १२ के बाद ३ वर्ष से कम में डिग्री नहीं मिलती। डिग्री लेने के लिए १५ क्रेडिट कोर्स करने पड़ते हैं। प्रतिवर्ष ५ से ज्यादा क्रेडिट कोर्स कोई नहीं ले सकता—हाँ, कम चाहे ले ले। जब कोई विद्यार्थी १५ क्रेडिट कोर्स कर लेता है—चाहे ३ वर्ष में करे—५ वर्ष में करे अथवा अधिक समय में—वह रजिस्ट्रार को लिखकर उपाधि प्राप्त कर सकता है। परिणामस्वरूप विद्यार्थी अपनी सुविधानुसार पठन-पाठन करते हैं। हर क्रेडिट कोर्स की जुदा-जुदा फीस होती है जो उसे चुकानी पड़ती है। इसलिए विद्यार्थी क्रेडिट कोर्स लेकर तन्मयता से काम करता है क्योंकि उसने उसकी फीस दी होती है। वह चाहता है कि उससे पूरा लाभ उठाये। गुरुजन भी जिम्मेवारी से काम करते हैं क्योंकि उन्होंने कोर्स के लिए फीस चार्ज की होती है और उनका कर्तव्य हो जाता है कि अपनी जिम्मेवारी निभायें। इस प्रकार कोर्स केवल डिग्री प्राप्त करने का साधन न रहकर योग्यता और कार्य-कौशल बढ़ाने का साधन हो जाता है।

जो लोग साथ-साथ नौकरी अथवा धन्धा करने पर मजबूर होते हैं, या जिन्हें किसी कारण से कोर्स बीच में छोड़ना पड़ जाता है, वे भी इन कोर्सों का यथासम्भव लाभ उठाते हैं।

यह तो अब स्पष्ट ही है कि भारत में ऑक्सब्रिज मॉडल असफल हो चुका है। नये मॉडल की तलाश में भी हमें अब दूर नहीं जाना है। १९६२ में, अमेरिका के लैंडग्रांट कॉलेजों के मॉडल पर भारत में, पन्त नगर, उदयपुर, लुधियाना में कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किए गए

थे। उनमें अनुसन्धान और अध्यापन के अतिरिक्त विस्तार प्रचार को जिम्मेवारी भी शिक्षकों पर डाली गई थी। इसी कारण कृषि विश्व-विद्यालय के स्नातकों ने गत वीस वर्षों में वैज्ञानिक कृषि के विस्तार हेतु जो कार्य किया है वह अनुकरणीय है। उन्हीं की प्रेरणा से भारत का साधारण कृषक अव आधुनिक कृषि युग में प्रवेश कर चुका है और भारत में हरित क्रान्ति का जो सूत्रपात हुआ उसका श्रेय कृषि विश्व-विद्यालय को समुचित मात्रा में मिलना ही चाहिए।

भारत के साधारण विश्वविद्यालयों में अभी विस्तार कार्य की उपयोगिता को उचित महत्त्व नहीं दिया जा रहा।

बरमिंघम के सम्मेलन में यह बात उभर कर आई कि विश्व-विद्यालय का मुख्य कर्तव्य अपने इर्द-गिर्द रोशनी फैलाना है, अर्थात् अपने-अपने अनुसन्धान के परिणामों को जनसाधारण तक पहुँचाना विश्वविद्यालय का परमकर्तव्य है, वह इसे टाल नहीं सकता। विश्व-विद्यालय का आधार एक तिपाये स्टूल पर समझिये जिसका एक पाँव अनुसन्धान का है, एक प्रशिक्षण का और एक विस्तार का।

इस प्रकार ही विश्वविद्यालय (जो समाज से अर्थ लाभ करते हैं) अपने अस्तित्व की भूमिका कर कृतकृत्य हो सकते हैं।

इसी भावना से प्रेरित होकर ही स्वामी दयानन्द द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई थी। वह भारत की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली से जो ऑक्सब्रिज मॉडल पर आधारित थी, असन्तुष्ट थे। वे चाहते थे कि हमारे युवक केवल क्लर्क अथवा राज्य प्रशासन के पुर्जे बन कर न रह जाएँ। इसीलिए उन्होंने गुरुकुल द्वारा वैदिक शिक्षा-प्रणाली को पुनर्जीवित करने का आन्दोलन चलाया। इस प्रणाली का परम-लक्ष्य विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास करना है अर्थात् विद्यार्थी की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति के अतिरिक्त उसे अर्थकरी विद्या से लाभान्वित करना भी इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को लेकर गुरुकुल में कई प्रकार के धन्धे सिखलाने का कार्यक्रम भो हाथ में लिया गया था और कालक्रम में आयुर्वेद और कृषि विद्यालयों की स्थापना हुई।

शुरू-शुरू में गुरुकुल के संस्थापक और संचालक उच्च आदर्शों से

प्रेरित थे। साठ वर्ष तक गुरुकुल ने दिग्गज महारथी पैदा किये, जिन्होंने देश-विदेश में खूब हलचल मचाई। इतिहास के क्षेत्र में क्या, राजनीति के क्षेत्र में क्या, आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में क्या, पत्रकारिता के क्षेत्र में क्या, सर्वत्र खूब योगदान दिया। परन्तु जब किसी संस्था का संचालन स्वार्थी बौनों के हाथों में आ जाये तो उसका ह्रास अवश्यम्भावी है। जब बड़े काम छोटे मनुष्यों के हाथ में आ जाए तो उपलब्धि का स्तर गिर ही जाता है।

जहाँ तक प्रणाली का सम्बन्ध है, कार्यविधि का सम्बन्ध है, लक्ष्यबोध और पथ का सम्बन्ध है वैदिक-पथ के अतिरिक्त अन्य कोई पथ है ही नहीं—लेकिन आवश्यकता है इस पथ को पहचानने और उस पर चलने वाले गुरुजन की—जो पुन: देश की बीमार शिक्षा-संस्थाओं के पथ-प्रदर्शक बन सकें, उन्हें पथ्य प्रदान कर सकें।

१५ अगस्त को बरमिंघम विश्वविद्यालय के भव्य हाल में सर एलिक मैरिसन, अध्यक्ष, राष्ट्रमण्डल विश्वविद्यालय संगठन और सर पीटर स्काट, चांसलर, बरमिंघम विश्वविद्यालय के स्वागत भाषणों से कांफ्रेंस का शुभारम्भ हुआ। मुख्य अतिथि थे—राष्ट्रमण्डल के जनरल सैक्रेटरी श्री दत्त रामफल। उन्होंने अपने भाषण में जनसाधारण की दरिद्रता और आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि जितना व्यय आज सामरिक अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन पर हो रहा है उसके अंश मात्र से ही विश्व के जनसाधारण को स्वास्थ्य, निवास, अज्ञान और अभाव की समस्याओं का निराकरण हो सकता है। उन्होंने कहा कि इस वर्ष विश्व का फौजी व्यय ६·५० बिलियन डालर है, अर्थात् प्रति मिनट १·२ मिलियन डालर (बारह लाख डालर अथवा १२ करोड़ रुपये के लगभग)। इस प्रकार जो व्यय फौज पर आठ घंटे में होता है, विश्व भर से मलेरिया का आतंक समाप्त कर सकता है और लगभग २० करोड़ व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा कर सकता है। परन्तु ऐसा हो नहीं पा रहा।

उन्होंने कहा कि १९६६ में पृथ्वी का पहला चित्र आकाश से खींचा गया था। जब अन्तरिक्ष यात्री चाँद पर पहुँचे तो उन्होंने पृथ्वी को एक तारे की भाँति उगता हुआ देखा। अब पृथ्वी एक गाँव के सदृश

छोटी हो चुकी है। सभी मानव समुदाय को मिल-जुलकर अपनी सांझी समस्याओं का निदान करना होगा।

उन्होंने ब्रांट रिपोर्ट का उल्लेख करते हुए कहा कि गरीब देश अनिश्चितता और कानूनी तोड़-फोड़ के वातावरण में उन्नति नहीं कर पाएँगे। हम ऐसा वातावरण चाहते हैं जिसमें सभी को बराबर न्याय मिले और राज्य-व्यवस्था खुली और कानून पर आधारित हो। गुरुदेव टैगोर की विश्वविख्यात कविता का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा कि हम ऐसा संसार बनाना चाहते हैं जो तंग घरेलू दीवारों से टुकड़े-टुकड़े न हो चुका हो। जवाहर लाल नेहरू के मशहूर वाक्य को दोहराते हुए उन्होंने कहा कि सबसे खतरनाक वह दीवारें हैं जो मन में खड़ी हो जाती हैं, जो हमें गलत परम्पराओं को भंग करने से रोकती हैं और नये विचारों को इसलिए ग्रहण नहीं करने देतीं क्योंकि वह अपरिचित से होते हैं।

विश्वविद्यालयों का यही मुख्य कर्तव्य है कि वह समाज में बौद्धिक और नैतिक नीवें प्रतिष्ठित करें और सार्वभौम भविष्य के निर्माण के लिए प्रवुद्ध स्नातकों को तैयार करें।

यही बातें अपनी-अपनी तरह से भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा निरन्तर प्रशिक्षण और ग्राम-सुधार की गोष्ठियों में भी उठाई गईं। लेकिन विश्व के समृद्ध देशों के प्रवुद्ध शिक्षा-शास्त्रियों की प्रतिक्रिया कुछ ऐसी लगी जैसे—शुतुरमुर्ग रेत में अपना सिर दवा देता है। इस आशा से कि रेत की आंधी ऊपर से ही टल जाएगी।

समृद्ध देशों की समस्या मुख्यत: बेकारी की है। टैक्नालोजी में जो असाधारण प्रगति हो रही है उससे पठित लोगों को कैसे निरन्तर अवगत कराया जाये ताकि वह उसका पूरा लाभ उठा सकें और आने वाले कल में उनकी कार्यक्षमता अप-टू-डेट रहे और वह अपने प्रतियोगियों से पिछड़ न जाएँ, इससे वह चिन्तित हैं।

इसी समस्या को लेकर बरमिंघम नगर के दूसरे विश्वविद्यालय ऐस्टन के चांसलर सर एड्रियन कैडबरी ने कांफ्रेंस के सम्मुख अपना उद्‌वोधन भाषण दिया। उन्होंने क्वैकर समुदाय का दृष्टान्त देते हुए कहा कि प्रतिष्ठित जनसमुदाय जिन लोगों का तिरस्कार करता है वही

संसार में क्रान्ति लाते हैं। ऐसे ही लोग क्वैकर थे। वह श्रमिक वर्ग का सम्मान करते थे। आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति में विश्वास रखते थे। उन्हें ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं मिलता था। सो उन्होंने अपने स्कूल खोले और इस प्रकार सभी के लिए अध्ययन-अध्यापन के साधन प्रस्तुत किये। यही लोग देश में टैक्नोलोजिकल क्रान्ति के कर्णधार बने। उन्होंने कहा कि विश्वविद्यालय का कर्तव्य केवल मनुष्यों की संसारी योग्यता बढ़ाना ही नहीं होना चाहिए, किन्तु विश्वविद्यालय को ऐसे मनुष्य तैयार करने चाहिएँ जो संसार को बदलने-सँवारने में पूरा सहयोग दें और संसार में हौसले और दृढ़ संकल्प से आचरण करें। इस हेतु समाज और विश्वविद्यालय में घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए, परस्पर मेलजोल हो। विश्वविद्यालय इस प्रकार के मेल-जोल के मिलन स्थल बन सकते हैं। वहीं नये-नये विचार पैदा हों, जो मिट्टी की और मानसिक दीवार तोड़कर यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलें। आज विश्व तरह-तरह की जटिल समस्याओं से घिरा हुआ है। उनको सुलझाने की जिम्मेदारी से विश्वविद्यालय भाग नहीं सकते। विश्व की समस्याओं को सुलझाने के सन्दर्भ में ही विश्वविद्यालय का अस्तित्व सार्थक होगा।

इस कान्फ्रेंस में मुख्य विषय तो था—तकनीकी आविष्कार और विश्वविद्यालयों की भूमिका—इसी विषय को लेकर निम्न प्रकार की पाँच गोष्ठियों का निर्माण किया गया—

१. तकनीकी आविष्कार के सामाजिक परिणाम।
२. सर्वांगीण ग्राम सुधार में विश्वविद्यालयों की भूमिका।
३. विश्वविद्यालय और उद्योग का परस्पर सहयोग।
४. तकनीकी ज्ञान का विकास और प्रसार।
५. निरन्तर शिक्षा।

मैंने दूसरे और ५वें विषयों की गोष्ठियों में भाग लिया।

१९५२ में भारत में अमेरिका के सहयोग से सामुदायिक योजनाओं का आरम्भ हुआ था। उससे पहले गांधी जी ने आजादी के आन्दोलन के साथ-साथ सदा ही ग्राम-सुधार पर जोर दिया था। गो-सेवा, ग्रामोद्योग खादी, अस्पृश्यता-निवारण उनके कार्यक्रम के मुख्य अंग थे।

पहले केवल स्वयंसेवकों द्वारा ही यह कार्य उठाये जाते थे। फिर

भारत की प्रादेशिक सरकारों ने भी देहात सुधार के महकमे खोले। लेकिन आजादी के बाद जब सामुदायिक योजनाएँ आरम्भ हुईं तो श्री एस० कैंडे के ओजस्वी नेतृत्व में सरकारी तंत्र ने इस कार्य को जोर-शोर से हाथ में लिया। विस्तार सेवाओं का सारे देश में जाल-सा बिछ गया।

इसके बाद १९५९ में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में राजस्थान के नागौर नगर में पंचायती राज का शुभारम्भ हुआ। जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के जिम्मे ग्राम-सुधार, खेती-सुधार इत्यादि का सर्वांगीण कार्य सौंपा गया। फिर भी तकनीकी प्रशिक्षकों की कमी रही। इस कारण कार्य प्रगतिशील नहीं हो पाया।

१९६२ में जब कृषि विश्वविद्यालय स्थापित हुए तो यह कमी भी दूर हुई। इसके साथ ही देश की सरकारों ने भूमि-सुधार के कार्यक्रम अपनाए। जमींदारी और जागीरदारी प्रथाओं का उन्मूलन किया गया। किसानों की बेदखली समाप्त होकर उन्हें खातेदार अधिकार प्राप्त हुए, जिससे उन्होंने अपनी-अपनी भूमि और खेतों में दत्तचित्त और निर्भय होकर दिलचस्पी लेनी शुरू की। फलस्वरूप देश में हरित क्रान्ति का उदय हुआ और जहाँ १९५० में अन्न की उपज ३.५ करोड़ टन थी। अब १३.५ करोड़ टन का लक्ष्य पार हो चुका है। हाँ, बढ़ती आबादी के सन्दर्भ में गरीबी अभी बनी है। किन्तु विज्ञान और पुरुषार्थ के सहयोग से कैसे उन्नति हो सकती है, यह सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार सर्वांगीण उन्नति के कार्यक्रम में बैंकों ने भी बड़ी अहम भूमिका निभाई है।

काँगड़ी ग्राम में बैंकों द्वारा कर्ज दिए गए, इसका मैंने गोष्ठी में जिक्र किया और कहा कि बहुत से कर्जदारों ने आधे से ज्यादा कर्ज चुका दिए हैं और कइयों की दैनिक आय ३०-४० रु० तक बढ़ चुकी है। इस ग्राम में अब गोबर गैस प्लांट भी लग चुके हैं। और ग्रामवासियों की आँख में आशा और विश्वास की चमक नजर आती है।

मैंने डॉ० स्वामीनाथन की प्रेरणा से भारत के पर्यावरण मन्त्रालय द्वारा प्रचलित गंगा, हिमालय और पश्चिमी घाट योजनाओं का भी जिक्र किया और कहा कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को ऋषिकेश से गढ़मुक्तेश्वर तक का तट अनुसन्धान और विस्तार कार्यहेतु

प्रदान किया गया है। इसी प्रकार गंगा नदी पर स्थित सभी विश्व-विद्यालय इस कार्यक्रम को उठा रहे हैं और विश्वविद्यालय का सामाजिक सुधार में योगदान होना चाहिए या नहीं, यह विवाद अब भारत में समाप्त हो चुका है।

एन० एस० एस० का जिक्र करते हुए मैंने कहा कि भारतीय विश्वविद्यालय सर्वांगीण मानव-निर्माण को अपना लक्ष्य मानकर चलते हैं। वह हल और कुल्हाड़ी के पीछे खड़े मानव का निर्माण करना चाहते हैं ताकि वह पूरी शक्ति से हल चलाएँ और सोच-समझकर कुल्हाड़ी का प्रयोग करें। विश्वविद्यालय का मुख्य कर्तव्य मानसिक जंजीरों को तोड़ना है तथा शिक्षकों और नेताओं का प्रशिक्षण हो ताकि वे राष्ट्र के युवक-समुदाय को सही नेतृत्व दे सकें।

विश्वविद्यालय सूर्य के समान हैं, उन्हें अपने इर्द-गिर्द प्रकाश की किरणें वितरित करनी होंगी। अन्धकार को दूर करना होगा। गरीबी के विरुद्ध युद्ध में पूरा योगदान देना होगा।

इस गोष्ठी में मदुराई गांधी-ग्राम रूरल इंस्टीट्यूट के कुलपति डॉ० आराम ने बड़ा रुचिकर और ज्ञानवर्धक पत्र पढ़ा। उन्होंने भारत में हो रहे कार्यक्रम पर विस्तार से प्रकाश डाला और बतलाया कि गाँधी ग्राम के स्नातकों की आज देश की अर्थव्यवस्था में खूब माँग है क्योंकि वह सही मानों में धरती के पुत्र हैं।

इसी प्रकार रांची के कुलपति श्री धान ने भी अपने विचार प्रकट किये और कहा कि पिछड़े वर्गों की समस्याओं से विश्वविद्यालय विमुख नहीं हो सकते।

ज्ञानदेव का वर

ज्ञानेश्वरी के अन्त में ज्ञानदेव महाराज ने परमात्मा से वर मांगा कि वह उन्हें प्रसाद दे। क्या प्रसाद दे ? क्या वर मांगा ? उन्होंने वर मांगा कि जो वक्र हैं, उनकी वक्रता दूर हो, उन्हें सत्कर्मों में रस प्राप्त हो। सर्वत्र मैत्री की भावना फैले। इस पृथ्वी पर विचारवान व्यक्तियों की वर्षा हो, ऐसे व्यक्तियों की जो ईश्वरनिष्ठ हों। वे लोगों से सतत मिलते रहें और सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश करें। परन्तु उनमें सूर्य की प्रखरता की बजाय चन्द्र की शीतलता हो। वह समाज में सदा घूमते रहें और कल्पतरु की तरह लोगों की कामनायें पूर्ण करें। कल्पतरु तो एक स्थान पर खड़ा रहता है, परन्तु ज्ञानदेव महाराज ऐसे कल्पतरु मांगते हैं जो घूमते-फिरते रहें। दरिद्रनारायण के द्वार पर पहुँचे। वह चाहते हैं कि हमारे ग्राम चेतनामय हों। तमोगुण की वजाय सतोगुण का राज्य हो। वह चाहते हैं कि सारा समाज अमृत सागर की तरह भक्तिमय हो।

यही विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और गुरुकुलों का लक्ष्य है अथवा होना चाहिए। विद्यालयों का यही कर्तव्य है कि ऐसे सत्पुरुष पैदा किए जाएँ जो सतोगुणी हों, मानव-मैत्री की भावना से प्रेरित हों, लोगों के बीच जाकर कल्पतरु की तरह उनकी कामनाएँ पूर्ण करें। उनके दुःख कष्ट, संताप को हरें। सर्वत्र शीतल चन्द्रमा की तरह प्रकाश करें, अन्धकार का नाश करें।

लेकिन यह मनुष्यरूपी पुतला है बड़ी अजीबो-गरीव चीज। इसके अन्दर सदा उथल-पुथल मची रहती है। सदा संघर्ष होता रहता है। सतोगुणी और तमोगुणी शक्तियों के बीच। कभी सतोगुणी शक्तियों का पलड़ा भारी होता है, तो कभी तमोगुणी शक्तियों का। गुरुजनों, माता-पिता और शिक्षा-संस्थाओं का लक्ष्य यह होना चाहिए कि सतोगुणी शक्तियाँ तमोगुणी शक्तियों पर हावी हो और केवल नई पीढ़ियों में ही

नहीं, परन्तु स्वयं में भी शुभ विचारों एवं शुभ आचरण की प्रवृतियाँ फलित हों। पर यह कैसे हो ?

व्यवहार शास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि व्यक्ति का आचरण उसके विचारों पर आधारित होता है। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही आचरण बनता है। मनुष्य का अहं जिस प्रकार के व्यक्ति की श्लाघा करता है, उसका आचरण भी उसी प्रकार ढलता है। प्रत्येक व्यक्ति का कोई-न-कोई आदर्श व्यक्ति होता है और अपने आदर्श व्यक्ति के बारे में जैसी उसकी धारणा होती है—चाहे काल्पनिक ही हो—वह उसके अनुसार अपने आचरण को ढ़ालता है।

कोई व्यक्ति अपना आचरण सफल खिलाड़ियों के जीवन के अनुसार ढालता है, तो कोई सिनेमा के सितारों के अनुसार। कोई साधु-संन्यासियों को अपना आदर्श व्यक्ति मानता है, तो कोई पूंजीपतियों को अथवा सैनिक अधिकारियों को।

विचारों में असीम शक्ति है, विचार ही मनुष्य के आचरण को प्ररणा देते हैं। इसलिए सभी धर्म-प्रचारक शुभ विचारों के महत्त्व पर जोर देते हैं। इसीलिए वेदों में गायत्री को महामन्त्र, गुरुमन्त्र की संज्ञा दी गई है।

किसी ने गायत्री के बारे में ठीक ही कहा है—

महामन्त्र जितने जग माहीं, कोई गायत्री सम नाहीं।
सुमिरन हिय में ज्ञान प्रकासे, आलस पाप अविद्या नासे।।

गायत्री के महत्त्व को समझने के लिए पहले हमें उसके अर्थ को ग्रहण करना होगा। सरल हिन्दी में गायत्री का अनुवाद इस प्रकार होगा—

हे प्राणाधार, दुःखों का नाश करने वाले, आनन्दस्वरूप, रक्षक, जगत के सर्जनहार, आपके वरण योग्य शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाले तेज को हम धारण करें। आप हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें, हम सन्मार्ग पर चलें। हमारी बुद्धियों को सही मार्ग पर ले चलो। हे भगवान् यही हमारी प्रार्थना है। यही हमारी कामना है।

यदि बार-बार इस मन्त्र का उच्चारण किया जाए, इस पर मनन किया जाए तो अवश्यमेव, बुद्धि पर इसका असर होगा ही। संसार में विचरते हुए मन पर हर प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। कई प्रकार का मैल

इकट्ठा होता है। उसको धोने के लिए शुभ विचारों की गंगा में स्नान करना आवश्यक हो जाता है और उस गंगा का उद्गम स्रोत है गायत्री मन्त्र।

महर्षि दयानन्द गायत्री के सम्बन्ध में लिखते हैं—

जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जाकर सावधानतापूर्वक जल के समीप स्थित होकर, नित्यकर्म करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री-मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान सहित करें और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को बनाएँ। यह जप मन से करना उत्तम है।

महर्षि साधकों को गायत्री-जप बतलाया करते थे। एक बार महाराज ग्वालियर से आपने कहा कि भागवत सप्ताह की अपेक्षा गायत्री पुरश्चरण अधिक श्रेष्ठ है।

स्वामी विवेकानन्द ने गायत्री को सुबुद्धि का मन्त्र बतलाया है और कहा है कि परमात्मा से माँगने योग्य यदि कोई वस्तु है तो सुबुद्धि है। सुबुद्धि से सन्मार्ग मिलता है और सत्कर्म होते हैं। सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है।

कविवर टैगोर ने तो यहाँ तक कहा है कि भारतवर्ष को जगाने वाला सरल मन्त्र गायत्री है। इसके उच्चारण करते समय ऐसा अनुभव करना चाहिए कि मैं किसी विशेष देश का वासी नहीं हूँ, अपितु सारा जगत मेरा है, मैं सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों आदि के बीच खड़ा हूँ। यह सारा संसार जिस शक्ति से सुशोभित है, परिचालित है, उस दिव्यज्योति का हम ध्यान करते हैं। उसका हम वरण करते हैं, वह हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दे।

इसी सन्दर्भ से द्रष्टव्य है, कुरानशरीफ का पहला मन्त्र—

ईश्वर का नाम लेकर जो बड़ा दयालु है, हम आरम्भ करते हैं। वह सारी सृष्टि का पालनहार है और प्रशंसा के योग्य है। वह कृपालु है, दयालु है। न्याय के दिन का अधिपति है।

हे प्रभु, हम तेरी पूजा करते हैं, तुमसे सहायता मांगते हैं, हमको सीधे रास्ते ले चल—उन लोगों के रास्ते जो तेरे कृपापात्र हैं न कि उनके रास्ते जो तेरे कोपभाजन हैं, अथवा पथभ्रष्ट हैं।

क्या यह सचमुच गायत्री-मन्त्र का ही रूपान्तर नहीं है?

युगपुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती : एक महान् शिक्षाविद्

ऋषि दयानन्द ने भारत में उस समय प्रकाश किया जब वह पराधीनता के अंचल के निविड़ अंधकार में था। उस समय जन-साधारण में स्वदेश, स्वभाषा, राष्ट्रीय संस्कृति, आर्य-धर्म, शिक्षा-तत्त्व, नारी-शिक्षा, राज दर्शन आदि विषयों पर स्पष्ट अथवा पर्याप्त चिन्तन का अभाव था। पिछड़ जीवन से आतप्त दरिद्रता के आगोश में आकंठ डूबे हुए भारतवासी दासता के जीवन में लिप्त थे। देशी रजवाड़े विलासिता और अंग्रेजशाही के विषैले जहर के शिकार थे। रूढ़िवादी धार्मिक परम्पराओं से ग्रसित देशवासी एक ओर तो मूर्तियों के सामने थर-थर कांपते थे, दूसरी ओर मगरूर विदेशी आक्रांता के सामने अपने स्वाभिमान को तिलांजलि दे बैठे थे। भारतीयों को जंगली एवं असभ्य समझने वाले और वेदों को असभ्य गडरियों के गाने सिद्ध करने वाले विदेशी विद्वानों को करारा उत्तर देते हुए ऋषि ने इन शब्दों के द्वारा देशवासियों के स्वाभिमान को फिर से जगाते हुए कहा, "यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूलोक में फैले हैं वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचारित हुए हैं।"

ऋषि दयानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वप्रथम ऐसे भारतीय थे जिन्होंने स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा (आर्यभाषा) का महामन्त्र देशवासियों के सामने स्पष्टतः रखा। इस तथ्य को उदारता से स्वीकार करते हुए थियोसोफिकल सोसायटी की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती एनी बेसेण्ट ने कहा था कि—"महर्षि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम नारा लगाया था कि भारत भारतीयों का है।"

मानवतावादी दयानन्द

ऋषि दयानन्द ने आज से सौ वर्ष पूर्व आर्य अथवा आदर्श मानव

का चित्र उपस्थित करते हुए लिखा, "मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्मवत दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हो—रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचार सदा किया करें अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल को हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण ही चला जाए परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न हो। मानव की इतनी सुन्दर परिभाषा शायद ही कहीं उपलब्ध हो।

आर्य से उनका तात्पर्य श्रेष्ठ और दस्यु से दुष्ट पुरुष का था। कृण्वंतु विश्वमार्यम् के रूप में ऋषि दयानन्द ने दुनिया के लोगों को श्रेष्ठ मानव बनाने का ज़िहाद छेड़ा था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से निर्मित विश्व समाज का जो चित्र ऋषि ने प्रस्तुत किया, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देश अभी तक भी उस चित्र की कल्पना नहीं कर सके हैं। 'इदन्नमम' और 'तेन त्यवतेन भुंजीथा' के आदर्श पर ही व्यक्ति और समाज के संघर्ष का समाधान हो सकता है, ऐसी उनकी मान्यता थी। विश्वयुद्ध के मंडराते बादलों को ऋषि दयानन्द के विश्ववादी विचारों से ही छिन्न-भिन्न किया जा सकता है।

महर्षि ने मानव जीवन को संकुचित फिरकाबन्दी के दायरे में नहीं देखा, बल्कि समग्र मनुष्य जाति के कल्याण के विशाल आदर्श को लेकर उन्होंने जन समाज के सम्मुख सबकी उन्नति और उपकार का लक्ष्य प्रस्तुत किया। ऋषि दयानन्द विश्व के वन्दनीय मानव हैं तथा उनके उत्तराधिकारी के रूप में उनके विचारों की पताका को प्रत्येक मानव समुदाय में फहराने की महान् जिम्मेदारी आर्य समाज पर है।

छुआछूत, संकीर्ण साम्प्रदायिकता, मत-मतान्तरों आदि के व्यामोह में जकड़े भारतीयों को ऋषि दयानन्द ने उद्बोध दिया कि जन्म से कोई बड़ा-छोटा छूत-अछूत नहीं होता, अपितु अपने गुण, कर्म एवं

स्वभाव से ही व्यक्ति बड़ा, छोटा, श्रेष्ठ अथवा दुष्ट बनता है।

ऋषि दयानन्द का राजनैतिक चिन्तन

ऋषि दयानन्द ने प्रखर राजनैतिक चिन्तन को उस समय जनमानस तथा देशी राजाओं-महाराजाओं के सम्मुख रखा जब पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े भारतीय स्वदेशी, स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता आदि के सम्बन्ध में किंकर्तव्यविमूढ़ थे। देशवासियों को पराधीनता के कारणों का आभास कराते हुए उन्होंने कहा कि स्वयंभु राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् वे आलस्य, प्रमाद, आपस के विरोध से नष्ट हो गए क्योंकि परमात्मा की इस सृष्टि में प्रमादी, अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।

स्वराज्य के बारे में दृढ़तापूर्वक ऋषि दयानन्द ने कहा, "माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशी राज्य अच्छा होते भी स्वराज्य से अच्छा कदापि नहीं हो सकता।" ऋषि दयानन्द के राजनैतिक स्वप्न को पूरा करने हेतु श्याम जी, कृष्ण वर्मा, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द, वीर सावरकर, भगत सिंह, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल आदि आर्यो ने स्वाधीनता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दी।

विपिन चन्द्रपाल का यह कथन कितना सार्थक है, "यह दयानन्द ही था जिसने उस आन्दोलन की आधारशिला रखी जो बाद में धार्मिक राष्ट्रीयता के नाम से जाना गया।" 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा देने वाले लोकमान्य तिलक ने यह स्वीकार किया कि "ऋषि दयानन्द स्वराज्य के प्रथम संदेशवाहक तथा मानवता के उपासक थे।"

ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचार प्रजातांत्रिक भावना से ओतप्रोत थे। यजुर्वेद के एक मन्त्र पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा, "प्रजाजन यह देखे कि उनका देश अकेले व्यक्ति से नहीं अपितु समाजों से प्रशासित हो।"

नारी जागरण

नारी जाति के उत्थान-हेतु ऋषि दयानन्द ने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण दिया। उनकी मान्यता थी कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार हैं। यजुर्वेद के आधार पर ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादित किया, "वेदों का प्रकाश ईश्वर ने सबके लिए किया है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि लड़कों और लड़कियों को विद्वान और विदुषी बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न किया जाए जिससे स्त्रियाँ भी वेदाभ्यास करके गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों की भाँति विदुषी बन सकें और तेजस्वी व्यक्तित्व विकसित कर सकें।" ऋषि दयानन्द का कहना था कि विद्वान् पति और अनपढ़ असंस्कृत पत्नी गृहस्थी की गाड़ी को सुचारू रूप से कदापि नहीं खींच सकते। शिक्षित नारी को भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहना चाहिए। इसलिए उन्होंने पुरुषों के समान स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया। इसी प्रकार नारी जाति पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ ऋषि दयानन्द ने अपने व्याख्यानों, लेखों इत्यादि के द्वारा खुलकर आन्दोलन किया। सती प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, अनमेल विवाह आदि कुप्रथाओं का ऋषि दयानन्द ने दृढ़ता से विरोध किया तथा मानव जाति के सम्मुख मनु का यह आदर्श रखा, "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" स्वामी जी की कल्पना का समाज नारी को प्रतिष्ठा के सिंहासन पर पहुंचा देता है। उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण में स्त्री-पुरुष समान हैं। उनकी गतिशील सामाजिक कल्पना में मातृ-पूजा का आधार सर्वत्र विद्यमान है।

ऋषि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

भारत की भाषा, संस्कृति, इतिहास, रहन-सहन आदि के तौर-तरीकों को बदलने हेतु लार्ड मैकाले की शिक्षा योजना के स्थान पर ऋषि दयानन्द ने भारतीयों के सम्मुख आर्य शिक्षा प्रणाली को प्रस्तुत किया। ऋषि दयानन्द के शिक्षा दर्शन के आधार पर छात्र-छात्राओं में अपनी भाषा, संस्कृति, धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा भरने के लिए आर्य समाज ने भारत के लगभग सभी प्रान्तों में गुरुकुलों, स्कूलों एवं कॉलेजों का जाल बिछा दिया। उनका शिक्षा-दर्शन समग्र जीवन पर आधारित

था। ऋषि दयानन्द ने अनिवार्य शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, नैतिक शिक्षा, गुरुकुल शिक्षा पद्धति, आचार्य-शिष्य सम्बन्धों आदि विषयों पर गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की जो शिक्षा मनीषियों के सामने एक प्रेरणा-दीप है।

जब राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में वहाँ की गोरी सरकार की रंगभेद नीति के विरुद्ध सत्यागह कर रहे थे तो भारतवर्ष से सर्वप्रथम गुरुकुल काँगड़ी के विद्यार्थियों ने अपना नित्य का घी-दूध त्याग कर, मजदूरी करके धन जमा किया और गाँधी जी की सहायतार्थ भेजा। इसलिए जब महात्मा गाँधी भारत लौटे तो सर्वप्रथम गुरुकुल काँगड़ी के इन छात्रों को उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया।

हाल ही में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय वैदिक शिक्षा कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें वैदिक शिक्षा की मूल विशेषताओं के बारे में अनेक विश्वविद्यालयों के शिक्षा प्रतिनिधियों ने गहन चिन्तन किया। इस कार्यशाला के अन्तिम सत्र में सभी प्रतिनिधि इस बात पर सहमत थे कि ऋषि दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों के आधार पर पल्लवित शिक्षा-प्रणाली से ही मानव समाज, राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण हो सकता है।

महान वेद-प्रचारक

पिछली अनेक शताब्दियों में शायद ऋषि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने वेद में धर्म और विज्ञान की सत्यता को लोगों के सम्मुख रखा। महर्षि दयानन्द के वेद विषयक मन्तव्य का समर्थन करते हुए योगी अरविन्द लिखते हैं, "वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या कोई भी हो, महर्षि दयानन्द का यथार्थ निर्देशों के प्रथम अभिभावक के रूप में सदा मान किया जायेगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग के मिथ्या ज्ञान के मध्य यह आप्त ऋषि दृष्टि थी जिसने सच्चाई को निकाल कर जन-जन के सामने रखा।" महर्षि ने अन्य वैदिक शास्त्रों को प्रामाणिक स्वीकार करते हुए भी वेद को ही परम प्रमाण माना। यह ऋषि दयानन्द का ही प्रभाव है कि वेदों का पठन-पाठन आज भारत में ही नहीं अपितु विदेशों

में भी प्रचलित हो रहा है। महर्षि दयानन्द की वेदार्थ शैली वैज्ञानिक एवं यौगिक थी।

निसन्देह यह कहा जा सकता है कि ऋषि दयानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के महानतम जाज्वल्यमान भारतीय थे जिन्होंने सर्वांग रूप से जीवन की सभी विद्याओं की विवेचना की और देश को अज्ञान और अकर्मण्यता की दलदल से निकालने का भगीरथ पुरुषार्थ किया।

बाल-शिक्षा का वैदिक मन्त्र

भारत के प्राचीन ऋषियों ने जीवन के सर्वोत्कर्ष स्वरूप की कल्पना में अनेक संस्कारों के रूप में एक ऐसी व्यवस्था का आविष्कार किया जो पूर्णत: वैज्ञानिक और व्यावहारिक है।

संस्कारों का सिलसिला

जिस प्रकार लोक में विशिष्ट अतिथि की प्रतीक्षा हेतु उसके रहने एवं आराम आदि के लिए पूर्व ही अच्छी व्यवस्था कर ली जाती है इसी प्रकार भारतीय ऋषियों के अनुसार संसार के माता-पिताओं को भी यह उचित है कि वे सन्तान के रूप में आने वाले नये मेहमान की एक स्पष्ट परिकल्पना करें। उसके शारीरिक एवं मानसिक निर्माण की तैयारी करें।

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् जीव जिस सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है वह पिता के वीर्य में विकास पाता है। उसके पश्चात् माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है। पिता के शरीर में वीर्य-कोष ही पुत्र का गर्भाशय है। यही आगुन्तक जीव का शरीर है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने यह धारणा रखी कि जिस प्रकार का भोजन पिता करेगा, उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा। भौतिक शरीर के अतिरिक्त पुत्र के मन पर भी पिता का असर होता है। उसमें पिता के प्रत्येक अंगों से किए हुए कार्यों की प्रतिच्छाया रहती है। अत: पिता को सोच लेना चाहिए कि जिस प्रकार के बालक की वह इच्छा करता है, उसी प्रकार का आचरण होना चाहिए। बच्चे के निर्माण में माता-पिता का दायित्व उसके उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक ऋषियों की यह बात सुनने में भले ही विचित्र लगे कि बालक की शिक्षा बालक के जन्म से पूर्व ही शुरू हो जाती है, लेकिन यह अकाट्य सत्य

है। इसलिए सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है—

अंगादंगात्सम्भवसि, हृदयादभिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि, त्वं जीव शरदः शतम्॥

—अर्थात् अंग-अंग से बालक उत्पन्न होता है, प्रत्येक अंग की प्रतिच्छाया शरीर पर पड़ती है। हृदय की सभी भावनाएँ स्पष्ट रूप से वीर्य के उस कण में होती हैं जिसको जीव ने अपना शरीर बनाया हुआ है। पिता अपनी अभिलाषित एवं सिञ्चित धरोहर निर्माण के आगे के उत्तरदायित्व को गर्भ धारण हेतु माता को सौंप देता है। अब 'माता निर्माता भवति' का सार्वभौमिक सिद्धान्त क्रियाशील हो जाता है। बालक के सर्वतोमुखी विकास हेतु प्राचीन ऋषियों ने माताओं को यह सीख दी कि वे अपनी दिनचर्या को इस प्रकार बनाएँ कि पूर्वजन्म के आये हुए अच्छे प्रभावों का विकास हो और बुरे प्रभाव शनैः-शनैः तिरोभूत हो जाएँ। इसलिए वेद में कहा है—

गर्भं धेहि सिनीवाली, गर्भं धेहि सरस्वती।

—अर्थात् माता को बच्चे को भोजन पहुँचाने वाली अर्थात् अन्नवाली एवं सरस्वती होना चाहिए।

बच्चे की सतत शिक्षा के इस वैदिक दृष्टिकोण का ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में अत्यन्त स्पष्ट तरीके से चित्रण किया है। माता-पिता को उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़कर जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता प्रदान करने वाले पदार्थ हों, उनको प्राप्त करें जैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थ जिससे रजस्, वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हो।

वेदों में बालक को शिक्षा देने में माता को साक्षात् सरस्वती कहा गया है तथा माँ को सत्य आदि गुणों की प्रेरक, बुद्धियों को चेतानेवाली शक्ति के रूप में प्रतिबिम्बित किया गया है। मस्तिष्क शक्तियाँ बच्चे के मस्तिष्क को बनाती हैं। मन और मस्तिष्क का परस्पर सम्बन्ध है। इसका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए बच्चे को शिक्षा देने का सिलसिला माता के संस्कारों के आधार पर जन्म से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में ऋषि दयानन्द ने संस्कार-विधि में माता के

विचारों को शुद्ध करने हेतु गर्भाधान संस्कार का विधान किया।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विभिन्न चरणों में आयुपर्यन्त होता रहता है। अतः इस हेतु गर्भ से मृत्युपर्यन्त मनुष्य के शरीर और आत्मा पर उत्तम संस्कार डालना और शुभ संकल्प लेना व्यक्ति और समाज के हित में आवश्यक हो जाता है। मनुष्य को सही रूप में शिक्षित करने का यह दृष्टिकोण सर्वाङ्ग जीवन से सम्बन्ध रखता है। ऋषि दयानन्द बच्चे की शिक्षा में माता-पिता के महान् उत्तरदायित्व का बोध कराते हुए कहते हैं, "वह सन्तानों को जितना उपदेश और उपकार पहुँचाता है, उतना कोई नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है। इसीलिए (मातृमान्) अर्थात् 'प्रशस्तम् धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।' वह माता धन्य है जो गर्भाधान से लेकर विद्याध्ययनपर्यन्त सुशीलता का उपदेश करे।

पुंसवन संस्कार

भारतीय ऋषियों ने गर्भावस्था के काल में ही बच्चे को सुसंस्कृत करने हेतु पुंसवन और सीमन्तोन्नयन दो और संस्कारों का विधान किया। गर्भ की स्थिति का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर आगन्तुक शिशु की भव्य कल्पना मस्तिष्क में संजोये माता-पिता इस संस्कार के माध्यम से यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि वे इस संसार में अपने से श्रेष्ठ सन्तान का निर्माण करने में प्राणपण से चेष्टा करेंगे। पुंसवन संस्कार के एक मन्त्र में स्त्री को यह सन्देश दिया गया है कि वह आगन्तुक बालक का पृष्ट-पोषण करने वाली है। बालक के व्यक्तित्व के विकास में गर्भवत् स्थिति में माँ की भूमिका बेजोड़ है। शिक्षा विनियम के इस बेजोड़ स्वरूप को हमने आज भुला दिया है। इसलिए वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि "गर्भ महान् वस्तु है, उसको धारण करने वाला महान् है और रक्षण करने वाला भी महान् है।"

सीमन्तोन्नयन संस्कार

यह संस्कार गर्भ के चौथे मास के बाद से लेकर सातवें मास के अन्त तक बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिए किया जाता

है। गर्भस्थ अवस्था में किए जाने वाले ये संस्कार माता-पिता को बराबर अहसास दिलाते रहते हैं कि उनके उत्कृष्ट जीवन पर ही उनकी सन्तान के सुन्दर भविष्य की आधारशिला स्थापित है।

सतत शिक्षा का स्वरूप

यह अकाट्य सत्य है कि गर्भावस्था में माता के सोचने-विचारने का, उसकी प्रवृत्तियों और भावनाओं का तथा संस्कारों का, संकल्प-विकल्पों का उनकी प्रत्येक क्रियाओं का सूक्ष्म प्रभाव अवश्य ही सन्तान पर पड़ता है। महाभारत के अनुसार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह-भेदन मातृ-गर्भ में ही सीखा था। कहते हैं कि बादशाह हुमायूं की बेगम एक दिन अपने तलवे पर सुरमे से एक फूल का चित्र बना रही थी, हुमायूं ने पूछा- ऐसा क्यों कर रही हो ? उसने कहा—मेरी इच्छा है कि मेरे पुत्र के तलवे पर भी ऐसा ही फूल हो। यह आश्चर्य से देखा गया कि जन्म से ही अकबर के तलवे पर वैसा ही फूल था। शिवाजी के इतने प्रतापी होने का कारण भी यही बताया जाता है। उनकी माता जीजाबाई उसी प्रकार के विचारों से सदा भरी रहती थीं। नेपोलियन की अतुल शूरवीरता और अदम्य साहस का रहस्य भी उनकी माता के वीरोचित संकल्पों में निहित है। रानी मदालसा की गाथा भी सर्वविदित है, जिसने संकल्प, विचार एवं रहन-सहन के आधार पर भविष्यवाणी की थी कि वह अपने एक पुत्र को चक्रवर्ती सम्राट बनाएगी तथा दूसरे पुत्र को महान् वीतराग संन्यासी। अपने इस संकल्प में वह सफल भी रही।

ऋषि दयानन्द ने संसार के शिक्षाविदों के सामने बालक को शिक्षित करने की वैदिक व्यवस्था का स्वरूप रखा। 'सत्यार्थप्रकाश' में शतपथ ब्राह्मण के वचन का हवाला देते हुए वे लिखते हैं—'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।' वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य हो, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। ('सत्यार्थप्रकाश', समुल्लास-२)

भारतीय ऋषियों के दृष्टिकोण से बालक को शिक्षित किया जाना ही वास्तविक है तथा इस प्रकार संस्कार-आरोपण का महान् उत्तरदायित्व अन्ततः परिवार का ही होता है। इसलिए परिवार

बालक की प्राथमिक पाठशाला है। इसी दृष्टिकोण की पुनर्स्थापना आज से एक शताब्दी पूर्व ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों—सत्यार्थप्रकाश एवं संस्कार विधि के द्वारा की। उन्होंने कहा कि जीव को संस्कृत किए जाने का सिलसिला जन्म से प्रारम्भ न होकर उससे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है जिससे जन्मान्तर के पश्चात् अनुकूल जलवायु एवं वातावरण के आधार पर श्रेष्ठ संस्कारों का पल्लवन बालक में हो सकता है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

माता-पिता के पश्चात् बालक को संस्कारित या दूसरे शब्दों में उसे शिक्षित करने में आचार्य की महान् भूमिका है। वेद के एक मन्त्र के अनुसार—

> आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
>
> —अथर्व० १।५।३

—अर्थात् जब आचार्य ब्रह्मचारी को शिष्य मानकर अपने पास रखता है, तब वह उसको अपने अन्दर कर लेता है। यहाँ अन्दर करने का तात्पर्य केवल अपने परिवार में अथवा कुल में सम्मिलित करना ही नहीं वरन् उस छात्र को अपने हृदय में रखना है, हृदय में अथवा गर्भ में रखने का यही अभिप्राय है। उससे छिपाकर कुछ नहीं रखा जाता है। गुरु अपनी योग्यता को उसमें सम्मिलित कर देता है। भारतीय दृष्टिकोण से गुरु-शिष्य का यह गम्भीर सम्बन्ध भी माता एवं पुत्र की तरह अंतरंग था। यह संस्कार संस्कारों के आरोपण से गर्भाधान के समय से ही प्रारम्भ होता है। माता-पिता के संस्कारों से पोषित बच्चा उपनयन संस्कार के माध्यम से आचार्य को निर्माण हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है।

स्वामी दयानन्द के राजनैतिक विचार और राजपूत महाराजे

ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचार तत्कालीन राजा-महाराजाओं को भेजे ऋषि के पत्रों से स्थान-स्थान पर उद्घोषित होते हैं। इन रियासतों के राजाओं को लिखे अनेक पत्रों में ऋषि दयानन्द ने इस आर्यावर्त देश के प्रति अपने गहन-तिमिर-चिन्ता को प्रकट किया है। १८५७ के विप्लव के बाद स्वराज्य का मूल सन्देश ऋषि दयानन्द ने अपनी दूरदर्शिता से पुनः देशी रियासतों को झकझोरते हुए दिया। भारत की दासता पर अपनी मर्म व्यथा प्रकट करते हुए ऋषि लिखते हैं—"अन्य देशों में राज्य करने की कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त से भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है।" (सत्यार्थ-प्रकाश)। उपर्युक्त शब्दों में ऋषि की मार्मिक वेदना अलग-अलग भागों में बंटी रियासतों के राजाओं को आन्दोलित करने हेतु झलकती है। उदयपुर में रहते हुए श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से स्वामी जी ने एक बार कहा था—"मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। फिर भारत भर में आप सुधार हो जाएगा।" राजा-महाराजाओं के सुधार में ही भारत का सुधार निहित है, इसी विचारधारा के साथ ऋषि ने अपना कार्यक्षेत्र राजस्थान को बनाया।

ऋषि दयानन्द ने घूम-घूमकर राजा-महाराजाओं को धर्म के साथ राजधर्म का सन्देश दिया। ऋषि दयानन्द का धर्म व्यष्टि एवं समष्टि दोनों का धर्म है, और समष्टि के विचार यंत्र में स्वराज्य उनका प्रथम सिद्धान्त रहा है। ऋषि दयानन्द ने सर्वत्र राजा के कर्तव्यों की

स्पष्ट व्याख्या करते हुए, उसे प्रजा का पालक कहा। जोधपुर नरेश को लिखे एक पत्र में ऋषि दयानन्द ने उनके चारित्रिक पतन पर फटकारते हुए अत्यन्त मर्मान्तिक शब्दों में अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए लिखा है—"राजन्, राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वैश्या कुतिया के सदृश है। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना और उस पर आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। आर्य जाति की कुल-मर्यादा के यह सर्वथा विपरीत है।" एक अन्य पत्र में ऋषि दयानन्द ने जोधपुर नरेश को पुनः समझाते हुए लिखा—"जैसे रुड़के कुत्ते से दांत वाला ल लगने से उसका दोष छूटना अति कठिन है, वैसे ही वैश्या, मद्यपान, चौपड़, कनकौवे आदि में व्यर्थ काल खोना और खुशामदी लोगों का संग राजाओं के लिए महाविघ्नकारक, धन, आयु, कीर्ति और राज्य के नाश करने वाले होते हैं।"

ऋषि दयानन्द को राजाओं के चाटुकारों सामन्तों से सख्त घृणा थी, इसीलिए वे सबके सामने निर्भीकता से राज्य प्रशासन में लिप्त चाटुकारों की तीव्र भर्त्सना कर देते थे। वम्बई में एक भाषण में इसी विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि इस देश के राजाओं की अवनति एवं दुःख का कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओं की ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देश की भी यह दीन-हीन दशा न होती। ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त देश की करुण स्थिति को प्रकट करने हेतु मेवाड़, जयपुर, शाहपुरा, भरतपुर, रीवा, ग्वालियर, धौलपुर, इन्दौर, जोधपुर आदि राज्यों का दौरा करके वहाँ के नरेशों के कानों तक राष्ट्रवाद का सन्देश पहुँचाने का यत्न किया। अपने निजी सम्बन्धों के आधार पर ऋषि ने महाराजा प्रताप-सिंह (जोधपुर) का भी एक अत्यन्त संवेदनशील पत्र लिखा। पत्र में उन्होंने लिखा था कि श्री मान्यवर शूर महाराज श्री प्रताप सिंह जी, आनंदित रहो। मुझे इस बात का वहुत दुःख है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान हैं और आप तथा वावा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य वसते हैं। उसके रक्षण तथा कल्याण का भार आप लोग उठा रहे हैं। उसका सुधार या विगाड़ भी आप तीन महाशयों पर निर्भर है।"

ऋषि दयानन्द चाहते थे कि जिस प्रजा के कल्याण का दायित्व इन राजाओं पर है, वे अपने आपको आचरणशील वनाएँ। इसी पत्र में आगे ऋषि लिखते हैं—"मैं चाहता हूँ कि आप अपनी दिनचर्या मुझसे सुधार लें, जिससे मारवाड़ का तो क्या, अपने आर्यावर्त देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जाएँ।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि स्वामी जी ने देशी नरेशों को सुधारने एवं एकताबद्ध करने के लिए अथक प्रयत्न किया। जब राज्य, संघ, देश एवं राष्ट्र की परिभाषाएँ ही विद्यमान नहीं थीं, उस समय ऋषि दयानन्द ने स्वराज्य, सार्वभौमिक राज्य, अखण्ड राष्ट्र आदि विचार-कणिकाओं को जन-समाज के सम्मुख रखा। ऋषि दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के अष्टम सम्मुलास में लिखी गर्जना क्या हमारे मानस से यह वेदना जागृत नहीं कर रही जिसमें ऋषि ने लिखा—"कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

स्मरण रहे ऋषि दयानन्द ने स्वदेशी स्वराज्य और स्वावलम्बन के स्वप्न तव देखे थे, जब भारतवासियों की महत्त्वाकांक्षाओं की पराकाष्ठा हाईकोर्ट की जजी तक ही थी। महर्षि ने एक सत्तात्मक राज्य की कल्पना का नाश करके प्रजातन्त्र का अप्रतिम घोष निनादित किया। एक दिन पण्ड्या मोहन विष्णुलाल जी उदयपुर ने ऋषि से निवेदन किया—"भगवन्, भारत का पूर्ण हित कव होगा? यहाँ जातीय उन्नति कव होगी?" दिव्य-दृष्टिवान् ऋषि दयानन्द ने उत्तर दिया—"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए विना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है।"

दयानन्द युवाशक्ति, नारीशक्ति और छात्रशक्ति को जगाना चाहते थे। देशी राजाओं के सुधार का बीड़ा उठाकर राजस्थान में प्रवेश किया। नैराश्य-निद्रा में बेखबर पैर फैलाए सोते सिंहों को दयानन्द ने वेदामृत-पान कराकर जागृत करने का प्रयास किया। धर्म के नाम

पर अपने अस्तित्व को मिटाने वाले, तलवार की तीक्ष्ण धार पर शत्रुओं को ललकारने वाले क्षत्रियों की सन्तान को उत्साहहीन, दीन, मलीन एवं पराधीन देख बाल-ब्रह्मचारी दयानन्द का हृदय व्यथित वेदना से चीत्कार कर उठा। इसी वेदना को व्यक्त करते हुए ऋषि दयानन्द ने एक अन्य पत्र में महाराजा जसवन्त सिंह जी (जोधपुर) को लिखा—"शोक की बात है कि आप ऐसे बुद्धिमान हैं कि नीचे लिखी हुई थोड़ी-सी बातों में न जाने क्योंकर प्रवर्तमान रहते हैं, वे ये हैं—यदि आप मद्यपान, वेश्यासंग, पतंग उड़ाना, घुड़दौड़, द्यूत आदि नहीं छोड़ते और राज्य-पालन कर्म में कम-से-कम छः घंटा परिश्रम और स्वपत्नियों से अधिक प्रेम नहीं करते हैं, इत्यादि शोचनीय बातें आप में हैं।"

स्वामी जी ने उदयपुर नरेश महाराणा सज्जन सिंह को भी इसी प्रकार अनेक पत्रों में प्रेरणात्मक राजबोध दिया। एक पत्र में ऋषि दयानन्द उनको लिखते हैं—"प्रातः समय योगाभ्यास की रीति से ध्यान करना और नाम लेना आदि पुरोहित के अधीन कर दीजिएगा जिससे ध्यान करने और राज्यपालन में यथोचित समय श्रीमान को मिले। बुद्धिबल, पराक्रम, आयु, प्रताप बढ़ता रहे।" इसी पत्र में आगे एक स्थल पर ऋषि दयानन्द राजाओं के कर्तव्य दिग्दर्शित करते हुए महाराजा सज्जनसिंह को प्रेरणा देते हैं—'सदा बलवान और राजपुरुषों से सताए हुओं की पुकार पर यदि भोजन पर बैठे हों तो भोजन को भी छोड़कर उनकी बात सुननी चाहिए और यथोचित उनका न्याय करना ऐसा न हो कि निर्बल अनाथ लोग बलवान और राजपुरुषों से पीड़ित होकर रुदन करें और उनका अश्रुपात भूमि पर गिरे कि जिससे सर्वनाश हो जाए।" इसी पत्र में ऋषि दयानन्द ने यथायोग्य व्यवहार के सिद्धांत का पृष्ठपोषण करते हुए राजा को उपदेश दिया है—"जो जितना अपराध करे उसको उतना दण्ड और जो जितना अच्छा काम करे उसको उतना ही पारितोषिक देना—अधिक या न्यून नहीं, चाहे माता-पिता ही क्यों न हों।" उपर्युक्त शब्दों में राजनीति की नैतिक मर्यादाओं का जो नियमन ऋषि ने एक शताब्दी पूर्व प्रस्तुत किया वह आज की कलुषित राजनीति में आच्छादित निहित स्वार्थों के प्रकाशदीप के रूप में हम सबके सामने विद्यमान है।

ऋषि दयानन्द ने व्यष्टि, समाज, राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास की ऐसी वृहद् रचना इस जीवन जगत् को दी, जो मानव जाति के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है। ऋषि दयानन्द ने उदयपुर के महाराजा सज्जन सिंह जी को पत्र में पच्चीस हिदायतें लिखकर दीं जो आज के युग में भी स्वस्थ राजनैतिक चिंतन में श्रेष्ठ मानदण्ड के रूप में प्रायोजित हो सकती हैं। एक स्थल पर ऋषि दयानन्द राजधर्म का उपदेश देते हुए लिखते हैं, "जब बुरे बुराई नहीं छोड़ते तो भले भलाई क्यों छोड़ें ?" इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर लिखते हैं—"यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय करना चाहे तो उसको राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझाएँ कि आप अन्याय मत कीजिए। यदि न माने तो उसको पदच्युत करके उसी कुल के निकट सम्बन्धी न्यायास्पद, योग्य पुरुष को न्यायाधिकारी मान लें।

ऋषि दयानन्द ने वेदमन्त्रों के भाष्य में भी आर्यावर्त के कोटि-कोटि मनुष्यों को यह आह्वान किया है कि हम स्वतन्त्रता का जीवन निर्वाह करें। उदाहरणार्थ यजु० ३८/१४ मन्त्र के क्षत्राय पिन्वस्व का अर्थ महर्षि ने किया है, "हे महाराजाधिराज, परब्रह्मन् 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम उत्तम गुण-युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट करें। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। इसी प्रकार यजु० ३६।२४ मन्त्र के 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' का अर्थ ऋषि ने लिखा है कि—"हम सौ वर्ष तक की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें।"

देहाती शिक्षा

हम लोग देहाती शिक्षा की बात तो करते हैं। पर हम हैं कौन देहाती शिक्षा की बात करने वाले? खुदाई फौजदार, जो हर पवनचक्की को दानव समझकर उस पर हमला करने को तैयार हैं! पिछले तीस बरस से हम ऐसे ही कितने हमले कर चुके हैं, परन्तु हुआ क्या? हवा में तलवारें चलाकर हम समझते रहे कि हमने दुश्मन को फतह कर लिया।

बहुत पुराने समय में एक ऋषि ने कहा था, "हकीम जी! अपना ही इलाज कर लो तो काफी है।" क्या यही नुस्खा हम पर लागू नहीं होगा? हमारा किसी अन्य तबके को सुशिक्षित करने का अधिकार ही क्या है? शिक्षा तो वह प्रदान करे जो स्वयं शिक्षित हो। अन्धा अन्धे को क्या राह दिखाएगा? जरा अपने से पूछो, क्या हम स्वयं सुशिक्षित हैं? क्या हममें सुशिक्षित व्यक्तियों के गुण हैं? आज देश के १११ विश्व-विद्यालयों में से ४४ अराजकता, अव्यवस्था, उपद्रव के कारण बन्द पड़े हैं। शिष्यों और गुरुओं में, गुरुओं और कर्मचारियों में, गुरुओं और प्रबन्धकों में, गुरुओं और गुरुओं में तनाव है। लाठियाँ चलती हैं, डण्डे चलते हैं। महीनों परिसरों में पुलिस पड़ी रहती है। वह भी गुण्डों से डरती है। निरी तमाशबीन की तरह खड़ी दिलचस्पी से, चस्के से नाटक देखती रह जाती है—तटस्थ, पंगु। अध्ययन-अध्यापन करने वाले ब्राह्मण, गुरुजन ऐसे वातावरण में क्या पढ़ाई-लिखाई करें? वे गुण्डों के आतंक से निष्पौरुष हो जाते हैं या फिर परिसर छोड़ जाते हैं और चक्कर लगाते हैं राजाओं के, दरबारों के, रक्षा-याचना करते हुए, जैसे विश्वामित्र गए थे राजा दशरथ के दरबार में। यह तो हुआ एक दृश्य।

अब देखिए दूसरा दृश्य! जहाँ और जब शहरी शिक्षा संस्थाएँ चल भी रही हैं, तो किस प्रकार? एक ओर अमीरों के, रईसों के स्कूल है। चुस्त स्कूली ड्रेस पहने विद्यार्थी मोटरों-बसों में चढ़कर स्कूल

पहुँचते हैं। गिट-पिट, गिट-पिट करते हुए विदेशी तौर-तरीके से एक-दूसरे को 'राम-राम' कहते हैं और जुट जाते हैं इस समाज की 'चूहा-दौड़', 'कुर्सी-युद्ध' के लिए अपने को तैयार करने में। दूसरी ओर अनगिनत बच्चे, फटे-पुराने कपड़ों में अपनी ठंड और गरीबी दबाते-छिपाते हुए बदहाल पहुँचते हैं टूटे-फूटे फर्नीचर-रहित स्कूलों में और रटने लगते हैं, सी-ए-टी 'कैट', बी-ए-टी 'बैट', 'बी' से ब्लेकशिप। तैयार किया जा रहा है उनको कोल्हू के बैल बनने के लिए।

फिर एक और दृश्य। ऐसे स्कूलों से निकले हुए बच्चे साइकिलों पर ट्रांजिस्टर लटकाये घूम रहे हैं, पान-बीड़ी की दुकानों पर छोटे-छोटे गिरोह बनाकर खड़े हैं। सिनेमाघरों के बाहर लम्बे-लम्बे क्यू बनाकर खड़े हैं। उनके गरीब माता-पिता घुटनों तक पानी भरे खेतों में कमरें झुकाए धान रोप रहे हैं। बाजारों-मंडियों में ठेले ढो रहे हैं।

एक और दृश्य! जयपुर की सुन्दर गुलाबी नगरी। तिलकनगर का संभ्रान्त मुहल्ला। विश्वविद्यालय की छाया में बसा हुआ उपनगर। सड़कों पर कूड़े-कचरे के ढेर। सूअरों के बच्चे और इन्सान के बच्चे उन ढेरों में खाद्य-पदार्थ चुगते हुए। इकट्ठा एक-साथ खाते हुए, एक-साथ खेलते हुए। 'आत्मा वै सर्वभूतेषु' का जीता-जागता नमूना।

फिर एक और दृश्य। पार्लियामेन्ट स्ट्रीट की कहानियाँ। देशों-विदेशों से खचाखच भरी हुई। पर महीनों से कूड़ा-कर्कट नहीं उठा। सफाई नहीं हुई। नई दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी कहती है, यह डिप्टी कमिश्नर का कार्य है। डिप्टी कमिश्नर कहता है, यह डिस्ट्रिक्ट जज का काम है। डिस्ट्रिक्ट जज कहता है, यह म्युनिसिपल कमेटी का काम है। पत्राचार में मोटी-लम्बी फाईल पैदा हो गई है। कचरा बदस्तूर बढ़ता जा रहा है।

तो फिर हम क्या करें ?

मैंने अभी हाल में श्री जे० पी० नायक द्वारा तैयार किया हुआ शिक्षा-सम्बन्धी नोट देखा है। उसकी प्रायः सभी बातें मैं 'एंडोर्स' करूँगा। हाँ, मुझे उनकी अन्त में दी गई आन्दोलन की बात समझ में नहीं आयी। यदि आंदोलन से अभिप्राय जुलूसबाजी-नारेबाजी से है, तो इससे समस्या हल होने वाली नहीं है। यह तो 'डाइवर्सिनरी' खेल होगा।

हमें देहाती-शिक्षा के महान् कार्यक्रम को सिरे चढ़ाने के लिए देहाती संस्थाओं को सुगठित करना होगा। हमारे पास वह तन्त्र मौजूद है भी, लेकिन हम शहरियों ने अपनी खुदगर्ज़ी के वश होकर उसे पनपने नहीं दिया और कहते हैं कि देहातियों में अपनी संस्थाएँ चलाने की क्षमता नहीं है। ठीक वैसे, जैसे अंग्रेज हमें स्वराज्य के योग्य नहीं समझता था। हम समझते हैं, देहाती भी स्वराज्य के योग्य नहीं है।

किसी समय राजस्थान के नागौर नगर में पं० जवाहरलाल नेहरू ने बड़े ढोल-दमामे, बाजे, नक्कारों के साथ देश में पंचायती राज्य की ज्योति जगाई थी, लेकिन हमने उसे पर्याप्त तेल न देकर चमकने नहीं दिया। किसी-न-किसी बहाने हमने दोबारा पंचायती संस्थाओं के चुनाव होने नहीं दिए। चुनाव भी सार्वजनिक शिक्षा के कार्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वक्त पर चुनाव होते रहें तो शासन-तन्त्र में नये रक्त का संचार होता है। नई चेतना, नया उत्साह, नये संकल्प उजागर होते हैं, लेकिन हमने देहाती क्षेत्र में ऐसा नहीं होने दिया। शहरियों ने तो स्वराज्य प्राप्त कर लिया, वे ऊँचे-ऊँचे सिंहासनों पर आरूढ़ हो गए, परन्तु स्वराज्य की गंगा बस उनकी जटाओं में उलझकर रह गई। उसका गाँवों में अवतरण नहीं हुआ। अब हमारा ध्यान इधर गया है जरूर लेकिन यह गंगा फिर कहीं उलझ न जाए, इसके लिए आवश्यक है कि जैसे संसद और विधान सभाओं के हर पाँच वर्ष में चुनाव करने की बात संविधान में रखी जाने वाली है, इसी तरह का प्रावधान पंचायती राज्य संस्थाओं के बारे में भी होना चाहिए। तभी ये संस्थाएँ पनपंगी, गाँवों को नया ग्रामीण नेतृत्व उपलब्ध होगा और उस प्रवाह में बह जाएँगे अज्ञान, निरक्षरता, उदासीनता, बेबसी। नुक्ताचीं लोग बात करते हैं वित्तीय साधनों के अभाव की। सच पूछिये, तो यह जबानी जमा-खर्च है। क्यों नहीं हम राजस्व की समूची आय पंचायती संस्थाओं के हवाले कर देते ! साथ में हम उन्हें ग्रामीण-स्तर की शिक्षा एवं स्वास्थ्य संस्थाओं की जिम्मेदारी भी दे दें, तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे इन्हें योग्यता से चलाएँगे, कम-से-कम उतनी योग्यता से तो जरूर जितनी योग्यता से हम शहरी लोग अपनी संस्थाएँ चला रहे हैं।

इसके साथ ही हमें कुछ और क्रान्तिकारी कदम भी उठाने होंगे,

विशेषकर नागरिक क्षेत्र में। हमें पब्लिक स्कूलों और साधारण सरकारी स्कूलों का अन्तर कम करना होगा। ठीक है कानूनन हम तथाकथित पब्लिक स्कूलों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते। लेकिन आज जो इन्हें सम्मान प्राप्त है उतना ही सम्मान हम साधारण सरकारी स्कूलों को भी देने की इच्छा तो प्रकट करें। इसके लिए हमें पाँच निर्णय लेने होंगे।

क्या हम इस बात के लिए तैयार हैं कि बारह वर्ष तक की आयु तक सब पठन-पाठन क्षेत्रीय भाषाओं में हो और जिन बच्चों के माता-पिता महत्त्वाकांक्षी हों, उनका अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि कोई एक विदेशी भाषा में प्रवेश बारह वर्ष की आयु के बाद ही आरम्भ हो।

दूसरे, अब वक्त आ गया है कि हम देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं के लिए एक ही लिपि अपनाने की बात करें। इससे जहाँ बच्चों के मस्तिष्क पर भिन्न-भिन्न लिपियाँ सीखने का बोझ नहीं पड़ेगा, वहाँ देश में एकता की भावना प्रबल होगी। एक प्रदेश के विद्यार्थी-शिक्षार्थी दूसरे प्रदेश के सत्साहित्य से लाभ उठाने की स्थिति में होंगे। मराठी ने देवनागरी लिपि अपनाई है। इससे मराठी को कोई हानि हुई हो, मुझे तो उसका ज्ञान नहीं है। आज तीस वर्ष के बाद भी हम अपनी भाषाओं में शिक्षा देने के लिए ग्रन्थ-निर्माण नहीं कर सकते, इसका एक कारण यह भी है कि प्रादेशिक लिपियों के ग्रन्थों की मार्केट सीमित है। यदि सभी भाषाओं की एक ही लिपि हो जाए तो प्रकाशकों-लेखकों को विस्तृत मार्केट उपलब्ध हो जाएगा और उनके लाभ की मात्रा बढ़कर उनकी उत्साह-वृद्धि होगी।

तीसरे, सभी बच्चों का, चाहे गरीब हों या अमीर हों, पड़ोस के मुहल्ला-स्कूलों में ही दाखिला हो। हम कृष्ण-सुदामा की बात तो करते हैं। क्यों न इस जनता के युग में कृष्ण-सुदामा को एक ही स्कूल में शिक्षा-दीक्षा दें।

चौथे, हमें इन मुहल्ला-स्कूलों पर (जिनमें मैं तथाकथित पब्लिक स्कूलों और कॉलेजों आदि को भी शामिल करता हूँ, आखिर वे किसी मुहल्ले में ही तो स्थापित हैं) उस मुहल्ले की सफाई की जिम्मेदारी डाल देनी चाहिए। हर शनिवार को समस्त प्रोफेसर, मास्टर, कर्मचारी, विद्यार्थी निकरें पहनकर, हाथों में झाड़ू लेकर, अपने मुहल्ले की सफाई

पर निकलें और मुहल्ले के तथा अपने दिमागों के कोने-कोने से कूड़ा, गंदगी, बीमारी, मच्छर और असमानता के कीड़े खदेड़-खदेड़कर बाहर निकालें।

पाँचवें, हमें मेडिकल एजूकेशन का पहला डिग्री कोर्स बारह वर्ष के बाद तीन वर्ष का कर देना चाहिए। तत्पश्चात् जो डॉक्टर सरकारी नौकरी करना चाहें, उन्हें कम-से-कम तीन वर्ष के लिए ग्राम-सेवा में भेजना चाहिए।

स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

बात १६३४ की है। विहार के भीषण भूकम्प के वाद राजेन्द्र बाबू लाहौर (अब पाकिस्तान में) पधारे। मैं किसी कारण उनके स्वागत-समारोह में न जा पाया। मेरे मित्र प्रकाश सूरी गये। वापसी पर उनसे पूछा कि कैसे लगे राजेन्द्र बाबू? कहने लगे, "वस, मलाई की वर्फ, कुल्फी का डिब्बा उनके हाथों में पकड़ा दो, तो मुहल्ले में आकर मलाई की वर्फ बेचने वाले लगते हैं।" ऐसा था स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के सिंहासन पर सुशोभित डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का व्यक्तित्व—सादगी एवं सरलता से पूर्णतः मंडित। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद भारतीय जनता के सच्चे प्रतिबिम्ब थे और गांधी जी के अनुसार उनका सरल व्यक्तित्व सरल भारतीय का प्रतिनिधि रूप था। डॉ० राजेन्द्र बाबू के दिल की धड़कन एक साधारण भारतीय की साँस के साथ जुड़ी हुई थी। उनका सम्पूर्ण जीवन निर्धन भारतीयों के समवेत स्वर से आप्लावित था।

संकल्प के धनी

डॉ० प्रसाद कठोर संकल्प एवं व्रत के धनी थे। उनकी निश्चयात्मक शक्ति वज्र के सदृश कठोर और पर्वत के सदृश अडिग होती थी। वे अपनी आत्मकथा में एक स्थल पर लिखते हैं कि उनको शुरू से ही सायंकाल जल्दी सोने की आदत थी लेकिन उसके कारण उन्हें वकालत करते हुए अपने अध्ययन के लिए समय नहीं मिल पाता था। वे अपनी इस आदत को छुड़ाना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में सुनिये—"१६१४-१५ में जब मैं एम०एल० परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था, सवेरे का समय मुकदमों की वहस की तैयारी में और लॉ कॉलेज की पढ़ाई की तैयारी में लग जाता था। दिन का समय कचहरी में कट जाता था।

केवल रात का समय ही परीक्षा की तैयारी के लिए मिलता था। इस-लिए संध्या को ही पुस्तकें पढ़ता और जब पुस्तकें हाथ में आ जातीं तब साथ-साथ नींद भी आ जाती। एक दिन सोचा किसी तरह संध्या की नींद को रोकना चाहिए। जब नींद आने लगी तो किताब हाथ में लेकर खड़ा हो गया। उस पर भी जब नींद का हमला कम नहीं हुआ, तो कमरे के अन्दर टहल-टहलकर पढ़ने लगा। मालूम नहीं कितनी देर तक यह क्रम चलता रहा। एकबारगी हाथ से किताब नीचे गिरी और मैं भी साथ ही साथ धड़ाम से कमरे के फ़र्श पर चित हो रहा।" उपर्युक्त घटना से यह संकेत मिलता है कि डॉ० राजेन्द्र प्रसाद कृत निश्चय को मूर्त रूप देने हेतु तत्परता से उसकी पूर्ति में लग जाते थे, परिणाम चाहे कुछ हो।

महामहिम राष्ट्रपति

भारत गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति होने का गौरव देशरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद को ही मिला। भारतीय जनता ने उन्हें 'देशरत्न' उपाधि से विभूषित किया। आज से तीन दशक पूर्व जनता ने उनके त्याग, तपस्या, सरलता, भारतीयता, देश-सेवा आदि गुणों से प्रभावित होकर उन्हें स्वेच्छा से यह उपाधि प्रदान की थी।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद में भारतीय किसान की सादगी, भोलापन, कर्मठता, स्वावलम्बन की भावना, अपार श्रद्धा, आस्था, धर्म और ईश्वर में अटूट विश्वास और दुःख-सुख झेलने की अपार क्षमता थी। कतिपय अन्य नेताओं की तरह वे पश्चिमाभिमुख नहीं थे। राजनीति के कीचड़ में भी वे कमल की तरह स्वच्छ, निष्कलुष एवं आकर्षक बने रहे।

मुझे महामहिम राजेन्द्र प्रसाद के निकट सम्पर्क में आने का अवसर १९५४ में और फिर १९६० में मिला। १९५४ में मैं राजस्थान में जिला टोंक में कलक्टर था। उसी जिले में शिक्षा जगत् में सुविख्यात वनस्थली पड़ता है। इसकी स्थापना राजस्थान के पहले मुख्यमन्त्री श्री हीरालाल शास्त्री और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रतन शास्त्री द्वारा हुई थी। स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद कभी-कभी विश्राम-हेतु एवं स्वास्थ्य-लाभ हेतु वनस्थली आया करते थे। श्रीमती

रतन शास्त्री के निमन्त्रण पर १९५४ में राष्ट्रपति बनने के बाद डॉ० राजेन्द्र प्रसाद वनस्थली पधारे। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को सरलता और सादगी देखते ही बनती थी। हमारे लिए तो डॉ० राजेन्द्र प्रसाद महामहिम राष्ट्रपति थे लेकिन उनके लिए तो राजेन्द्र बाबू ही थे।

इसी तरह १९६० में जब मैं उदयपुर में कलक्टर था तब स्व० श्री मोहनलाल सुखाड़िया के निमन्त्रण पर वे उदयपुर पधारे। स्पुतनिक युग आरम्भ हो चुका था। अमरीका और रूस में हथियारों की होड़ लगी हुई थी। इस अवसर पर भोज पर भाषण देते हुए सौम्यमूर्ति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने उपस्थित जन के सम्मुख विश्व-शान्ति का संदेश दिया, जो आज भी संसार के नीतिज्ञों के लिए प्रेरणादायक है।

अजातशत्रु

भारत के क्षितिज में अजातशत्रु के नाम से उनकी लोकप्रियता जन-जन तक व्याप्त थी। राष्ट्रपति का सिंहासन उनके महान व्यक्तित्व से चमक उठा था। उन्होंने उसके गौरव, गरिमा और श्री की वृद्धि की। राष्ट्रपति भवन में उनके द्वारा जो स्वस्थ एवं जनोपकारी परम्परायें स्थापित की गईं उससे इस महान पद का गौरव सचमुच जगमगा गया। उन्होंने स्वयं के लिए राष्ट्रपति के आचरण का जो महान और उच्च मानदण्ड निर्धारित किया, वह सदा के लिए आदर्श बन गया।

युगपुरुष

डॉ० राजेन्द्र बाबू संविधान के पालन में बड़े निष्ठावान और सतर्क रहते थे। संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया गया है। अतएव वे औपचारिक अवसरों पर हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। संसद को सम्बोधित करते हुए वे सर्वप्रथम अपना भाषण हिन्दी में ही पढ़ते थे।

वे सदा ही जनता के व्यक्ति रहे और फिर जनता में ही विलीन हो गए। उनकी वाणी एक निर्धन किन्तु गर्वीले और सज्जन किसान की आवाज थी और ४० करोड़ भारतीयों की हृत्तन्त्री से उनका हृदय जुड़ा हुआ था।

राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवनकाल में तरुण भारत का ओजस्वी नेतृत्व किया। साधारण जनमानस को सही बोध प्रदान किया। देश को एक तपस्वी और निर्लिप्त ज्ञानी का अमृत-बोध उनसे जीवन-पर्यन्त बराबर मिलता रहा। आज भारत माता को पुनः राजेन्द्र बाबू जैसे सपूतों की आवश्यता है। ऐसे युगपुरुष को मेरा शत-शत नमन।

शिक्षा का माध्यम

हिन्दीभाषी राज्यों में भी यह मानना पड़ेगा, अभी तक विश्व-विद्यालय-स्तर की शिक्षा का माध्यम हिन्दी न होकर अंग्रेजी ही है। जहाँ कहीं हिन्दी माध्यम है भी, वहाँ हीनता की भावना दृष्टिगोचर होती है।

विश्वविद्यालय-स्तर को छोड़िए, प्राथमिक और पूर्व प्राथमिक शिशु-शिक्षा के स्तर पर भी अंग्रेजी द्वारा शिक्षा प्रदान करना फैशन है। स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में मानसिक क्रांति की आवश्यकता है। हम हिन्दी के माध्यम का केवल इसलिए ही नहीं प्रयोग करना चाहते कि हम हिन्दी को देवी-देवता का दरजा देते हैं, बल्कि इसलिए कि अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने में सुविधा होती है। विदेशीभाषा के जंगल में फँसकर विद्यार्थियों के विचारों का प्रवाह एवं उनकी मानसिक उड़ान मन्द हो जाती है। विदेशी-भाषा के व्याकरण को सम्भालना, शब्दावली को सम्भालना एवं विचारों को हृदयंगम करना बच्चों के लिए दुःसाध्य हो जाता है। हर उन्नत देश में विद्यालय का स्तर एवं विचारों के आदान-प्रदान का साधन स्वदेशी-भाषा ही रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की बात दूसरी है। विदेशी-भाषा के माध्यम से शिक्षा-प्रसार करने में बुद्धि कुशाग्र न होकर कुंठित ही रहती है। विद्यार्थी चाहे कितना ही मेधावी क्यों न हो!

विश्वविद्यालय-स्तर पर अंग्रेजी माध्यम के प्रयोग का विशेष कारण यह है कि चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कानून, प्रशासन तथा व्यापार आदि विभिन्न व्यवसायों में ऊँचे स्तर पर प्रवेश पाने के लिए अंग्रेजी की जानकारी ही नहीं बल्कि अंग्रेजी में कुशलतापूर्वक बातचीत करने की क्षमता भी होनी चाहिए। इसलिए महत्त्वाकांक्षी नवयुयक अंग्रेजी में प्रवीणता प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते

हुए छोटी श्रेणियों से ही अंग्रेजी में शिक्षा प्रदान करना आरम्भ कर दिया जाता है। परिणामत: हम एक विशिष्ट वर्ग द्वारा निर्मित ऐसी जंजीरों में जकड़े गए हैं जिन्हें तोड़ना कठिन हो रहा है और शिक्षा एवं रिसर्च की उपलब्धियाँ केवल दर्शनीय उपलब्धियाँ रह गई हैं।

हमें इसका इलाज नीचे से ही आरम्भ करना होगा। आज से साठ-सत्तर साल पहले वर्नाकुलर फाइनल तक शिक्षा स्वदेशी भाषाओं द्वारा दी जाती थी। उसके वाद जिसको आगे पढ़ना होता था, वह अंग्रेजी का विशेष पाठ्यक्रम लेकर अंग्रेजी में अपनी दक्षता बढ़ाता था और हाई स्कूल और कॉलेज में प्रवेश प्राप्त करता था। क्यों न यही पद्धति पुन: जारी की जाए? अर्थात् छठी कक्षा तक सब विद्यालयों में हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं द्वारा शिक्षा दी जाए, नवीं से जो चाहे वैकल्पिक तौर पर अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, फ्रेंच आदि के विशेष कोर्स ले। शिक्षा का माध्यम राष्ट्रीय भाषाएँ ही रहे। पब्लिक स्कूलों में भी ऐसा ही प्रावधान रहे। इसके अभाव में देशी भाषाओं के प्रति हीनता की भावना वनी रहेगी। इस बात का हमें दृढ़ संकल्प करना होगा कि जल्दी से जल्दी देशी भाषाओं के प्रति आज जो हीनता की भावना है उसे समाप्त किया जाए। हम देखेंगे कि इससे पब्लिक स्कूलों और साधारण स्कूलों के वच्चों में जो ऊँच-नीच की भावना व्याप्त है उस पर भी चोट पड़ेगी और कुछ हद तक ही सही, सामाजिक समानता का लक्ष्य भी नजदीक आएगा।

इसके अतिरिक्त हमें यह भी संकल्प करना होगा कि ऊँचे स्तर पर विधि, व्यापार और अन्य पत्र-व्यवहार में हमें राष्ट्रभाषा को अपनाना है। अफसोस है कि इतना समय गुजरने के वाद भी हमारी अदालतें अपना निर्णय अंग्रेजी में देती हैं। विशेषकर माल की अदालतें तो ऐसा करके अनर्थ करती हैं। बेचारे किसानों को फैसले पढ़वाने के लिए वकीलों, स्कूल-मास्टरों को वीस-वीस, पचीस-पचीस रुपये देने पड़ते हैं। कानून की यह मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति अपने वचाव में कानून से अज्ञानता का तर्क नहीं दे सकता। यदि यह बात है तो क्या कानून की व्याख्या करने वालों के लिए यह लाजिमी नहीं होना चाहिए

कि वे कानूनी व्यवस्थाएँ सार्वजनिक भाषा में दें ? क्या जनता की यह माँग नाजायज है ?

एक लिपि

इसके साथ ही सम्बन्धित एक और सुझाव है। यदि देश की सभी प्रादेशिक भाषाएँ नागरी लिपि को अपना लेती हैं, तो न केवल राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिलेगा, बल्कि विभिन्न भाषाओं में पारस्परिक अदान-प्रदान भी बढ़ेगा और पुस्तकों के क्रय-विक्रय का मार्केट भी विस्तृत हो जाएगा। इससे लेखकों, प्रकाशकों को ग्रन्थ-निर्माण में प्रोत्साहन मिलेगा। विद्यार्थियों पर भिन्न लिपि को ग्रहण करने से जो जोर पड़ता है, वह भी समाप्त हो जाएगा।

आखिर शिक्षा का लक्ष्य बन्द दिमागों को खोलना है। विचारों की उड़ान को प्रबल करना है तथा नई सूझ-बूझ पैदा करना है। इस प्रकार देश भर में एक लिपि होने से देश के कोने-कोने में व्याप्त लहरों से समूचा राष्ट्र पल्लवित हो जाएगा, इसमें क्या सन्देह है ? आज हम बिजली के लिए एक राष्ट्रीय ग्रिड की बात करते हैं, भारतीय रेलों के लिए गेज की बात करते हैं, तो क्यों न सभी राष्ट्रीय भाषाओं के लिए एक लिपि का प्रस्ताव स्वीकार करें ?

आदर्श आचार्य

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्ति आपो न शोषयति मारुतः॥

गीता का यह श्लोक सहसा मेरे पूज्य पिताजी के मुखराविन्द से उस समय निकला जब दिसम्बर १६२६ की एक काली शाम को लाहौर से निकलने वाला दैनिक ट्रिब्यून अमर वीर स्वामी श्रद्धानन्द की शहादत का समाचार लेकर पश्चिमोत्तरी सीमान्त प्रान्त के दूरवर्ती नगर डेरा इस्माइल खान में पहुँचा। "धन्य हैं स्वामी श्रद्धानन्द जिन्होंने जीते-जी कितनी बार ही अपने उसूलों की खातिर सर्वस्व बलिदान किया और मरते वक्त भी अपनी जिन्दगी की आन और शान को बरकरार रखा। ऐसे ही महान व्यक्तियों के रक्त से राष्ट्रोत्थान की जड़े सींची जाती हैं। वह मरे नहीं, अमर हो गए। मौत हो तो ऐसी हो।" यह उद्गार मुझे बारह बरस के बालक को पिताश्री के मुख से सुनने को मिले। मैं भला क्या जानूँ कि शहादत क्या होती है? परन्तु यह जरूर सोचता रह गया कि क्यों एक पागल ने गोली चलाकर उनकी हत्या कर दी? मेरे दिल में भी स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति आदर था। इसलिए कि दो वर्ष पहले ही उनके सान्निध्य में मथुरा में हुई 'दयानन्द जन्म शताब्दी' के अवसर पर मेरा उपनयन संस्कार हुआ था। पिताजी का तो उनके साथ पुराना गहरा सम्बन्ध था।

सुराज्य भी स्वराज्य से हीन

जब ४ मार्च, १६०२ को स्वामी श्रद्धानन्द (तब महात्मा मुंशीराम) ने गंगा के पूर्वी तट पर हरिद्वार से चार किलोमीटर दूर काँगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की थी तो पूज्य पिताजी बीस वर्ष के नवयुवक थे। हिन्दुस्तान में उस समय आजादी की लहर यौवन पर

थी। छः वर्ष पहले बाल गंगाधर तिलक ने उद्घोष किया था कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा। स्वामी दयानन्द तो 'सत्यार्थप्रकाश' में लिख ही गए थे कि विदेशी राज्य कितना ही सुराज्य क्यों न हो, स्वराज्य से अच्छा कभी नहीं हो सकता। उनसे प्रेरणा पाकर आर्य समाज भी अपने तरीके से स्वराज्य-प्राप्ति के लिए देश को तैयार कर रहा था। अविद्या के नाश और विद्या के प्रचार के लिए आर्य समाज कटिवद्ध था। १८८६ में लाहौर में डी० ए० वी० कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। परन्तु प्रोफेसर गुरुदत्त और महात्मा मुंशीराम डी० ए० वी० आन्दोलन को यथेष्ट उग्र नहीं मानते थे। वे आर्य समाज के शिक्षा और वेद-प्रचार के कार्यक्रम को अधिक प्रचण्ड करना चाहते थे। इसलिए आर्य समाज में दो दल खड़े हो गए—एक था कॉलेज दल और दूसरा था गुरुकुल दल। महात्मा मुंशीराम गुरुकुल दल के नेता थे और गुरुकुल की स्थापना के लिए वह अपना घर-वार छोड़ धन-संग्रह का संकल्प कर चुके थे। उनका व्रत सफल हुआ और १६ मई, सन् १६०० को गुजरांवाला नगर में (जो कि अब पाकिस्तान में है) गुरुकुल की स्थापना की गई। वाद में जब नजीबावाद जिला बिजनौर के दानवीर ठाकुर अमनसिंह ने हरिद्वार के समीप काँगड़ी ग्राम में अपनी १४०० बीघा जमीन गुरुकुल को भेंट की तो महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल को काँगड़ी में स्थानान्तरित कर दिया।

गुरुकुल का उद्देश्य

गुरुकुल का उद्देश्य केवल वैदिक शिक्षा का प्रचार करना ही नहीं था बल्कि वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा प्रणाली के द्वारा ओजस्वी, वर्चस्वी ब्रह्मचारी पैदा करना था जो देशोत्थान के कार्य में दत्तचित्त होकर देश की सर्वांगीण प्रगति में समुचित योगदान दे सकें। इस सम्बन्ध में महात्मा मुंशीराम ने अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त की व्याख्या करते हुए जो भाव प्रकट किए हैं, वे आज भी पठनीय हैं। महात्मा मुंशीराम न केवल तत्कालीन शिक्षा-पद्धति से असन्तुष्ट न थे वल्कि वह अध्यापक वर्ग से भी अपेक्षा करते थे कि वे ब्रह्मचर्य सूक्त में वर्णित आचार्य की संज्ञा पर पूरे उतरें। वे केवल एक विषय पढ़ाने

वाले अध्यापक, प्राध्यापक, लेक्चरर या प्रोफेसर होकर ही न रह जाएँ, वल्कि सही मानों में गुरु के पद का भार सभालें और ब्रह्मचारी को अपने आचार-व्यवहार द्वारा राष्ट्र का व्रती नागरिक वनाने में पूरे मनोयोग से अपना उत्तरदायित्व निभायें। ब्रह्मचर्य सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए जगह-जगह पर उन्होंने अपने ऐसे ही भाव व्यक्त किए हैं।

दोषयुक्त शिक्षा-प्रणाली

तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के दोषों का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं—"वर्तमान शिक्षा-प्रणाली कैसे विद्यार्थी उत्पन्न करती है ? आज से बयालीस वर्ष पूर्व जिस प्रकार काशीपुरी में कॉलेजों के विद्यार्थी दोषों से पीड़ित लट्ठ और छुरी की लड़ाई लड़ते थे, आज भी कॉलेजों के केन्द्र स्थानों में छुरी चल रही है। इसमें विद्यार्थी का कितना अपराध है, इस पर विचार करना चाहिए। जिन्हें माता-पिता ने पशु-जीवन व्यतीत करते हुए उत्पन्न किया है, जिन्हें व्यभिचारी, लम्पट, विषयी पुरुषों ने शिक्षा दी, कॉलेज में पहुँचकर जिनके सामने बड़े नेताओं का दुराचार-पूर्ण जीवन रखा गया, उनसे आशा ही क्या की जा सकती है ? कॉलेज रावी के इस पार हो या उस पार, इससे कुछ लाभ नहीं, जब तक कि माता-पिता के उत्तम संस्कारों से प्रभावित होकर बालक आचार्य-कुल में निवास नहीं करता। तभी तो वह उत्तम आचार्य चुनने के योग्य होगा।

स्वयं आचार्य प्राप्त कर

"हे ज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी ! स्वयं अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं अच्छे आचार्य को प्राप्त हो, स्वयं उसकी सेवा कर जिससे तेरा यश (कुसंग के साथ) नष्ट न हो।" कैसा उत्साहजनक उपदेश है ! क्या कॉलेजों की वर्तमान स्थिति में कोई विद्यार्थी अपने लिए स्वयं आचार्य को स्वीकार कर सकता है ? सैकड़ों में कोई एक आत्मज्ञ प्रिंसिपल दिखाई देता है, दौड़ता हुआ जिज्ञासु ब्रह्मचारी उसके पास पहुँचता है, प्रिंसिपल युवक के शुद्ध भावों को पहचानता है, परन्तु शोक ! प्रविष्ट करने की नियत संख्या पूरी हो गई और एक भी और प्रविष्ट नहीं हो सकता, फिर आचार्य को कैसे चुनें ?

परन्तु आचार्य भी कहाँ मिलते हैं ? और बेचारे करें भी क्या ?

उन्हें प्रवेश करते हुए विद्यार्थी की परीक्षा लेने का क्या अधिकार है? प्रार्थी की आँखें भयानक हैं, उसका मुख पिशाचत्व का नमूना है, उस पर विषयभोग अंकित हैं, परन्तु परीक्षा की पर्ची जिसके पास है उसे इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में गुरु और चेला दोनों ही असंतुष्ट हैं।

"कौन तुझे (तेरे अंग-प्रत्यंग की परीक्षा कर) छेदन करता (अर्थात् तेरा सार जान लेता) है, कौन तुझे उत्तम शिक्षा देता है? कौन तेरे (भौतिक और आत्मिक) अंगों को शान्ति पहुँचाता है और कौन तेरा यक्षकर्ता तत्त्वज्ञानी कवि है? कहाँ यह गुरु-शिष्य का आदर्श और कहाँ आजकल का बेमेल जोड़! जब तक जाति की शिक्षा जाति के हाथ में नहीं आती, जब तक शिक्षालयों को राज्य के प्रबन्ध से अलग करके उनकी स्थिति का भार उनके आचार्यों के सदाचार और उच्च जीवन पर नहीं रखा जाता और जब तक माता-पिता शुद्ध भाव से सन्तान उत्पन्न करके उनमें आचार्य चुनने की योग्यता का संचार नहीं करते, तब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमें दिनोंदिन रसातल की ओर ही ले जाएगी।

सच्चे आचार्य दुर्लभ

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं, संसार सच्चे आचार्यों के बिना पीड़ित हो रहा है। उनका अशान्त हृदय सच्चे पथ-प्रदर्शकों के बिना व्याकुल हो रहा है परन्तु इधर से आशाजनक शब्द भी सुनाई देता है। शिकायत है कि अच्छे विद्यार्थी नहीं मिलते। किन्तु शिकायत करने वाले यह भूल जाते हैं कि सच्चे आचार्य भी दुर्लभ हो गए हैं।

मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान्

आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ऋषि दयानन्द ने शिक्षा के सम्बन्ध में जो अपने मन्तव्य सौ वर्ष पहले स्थिर किए, उनको पाश्चात्य विद्वान् कहीं आज जाकर स्वीकार कर रहे हैं। उनकी देखा-देखी हमारे भारतीय विद्वानों का ध्यान भी अब उन सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुआ है। ऋषि दयानन्द ने कहा कि वस्तुतः मनुष्य के तीन शिक्षक होते हैं—पहली माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य। शिशु की शिक्षा के लिए गर्भाधान के पूर्व ही माता और पिता को अति उचित है कि वे अपने खानपान का, आचार-विचार का यथासम्भव ध्यान रखें। दोनों के शरीर आरोग्य हों, परस्पर प्रसन्नता व किसी प्रकार का शोक न हो।

इसी तरह गर्भाधान के पश्चात् भी दोनों को बहुत सावधानी से भोजन-छाजन करना चाहिए और संयम रखना चाहिए ताकि सन्तान उत्तम, बल-पराक्रमयुक्त, धार्मिक हो।

जब बालक बोलने लगे तब उसको ठीक प्रकार से बोलना सिखाएँ। वे मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर का श्रवण करें ताकि उनकी वाणी और स्वर मधुर तथा सुन्दर हों। इसके उपरान्त उन्हें देवनागरी अक्षर सिखलाएँ, अन्य भाषाओं के अक्षर भी सिखलाएँ और फिर उनको अच्छी धार्मिक शिक्षा दें ताकि वे किसी भ्रान्ति-जाल में न पड़ें और किसी धूर्त्त के बहकावे में न आएँ।

ऋषि लिखते हैं कि माता-पिता और आचार्य शिष्यों का ताड़न करने से न घबराएँ। हाँ, ताड़ना ईर्ष्या-द्वेष से न करें किन्तु ऊपर से भय प्रदान तथा भीतर से कृपादृष्टि रखें जिससे बालक बिगड़ने न पाए। इस बारे में पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न मत हैं किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुत लाड़-प्यार से बालकों का केवल अनिष्ट ही अनिष्ट होता है।

'सत्यार्थप्रकाश' के तीसरे समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने विधिवत् शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष में लड़के अथवा लड़की को पाठशाला भेज दिया जाए। पिता माता व अध्यापक बच्चों को अर्थसहित गायत्री का उपदेश करें ताकि वे सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित हों। साथ में स्नान, आचमन, प्राणायाम इत्यादि भी सिखाएँ जिससे कि बालक स्वस्थ और नीरोग हो।

ऋषि दयानन्द ने विशेष बल आचरण पर दिया। आचरण धर्मानुकूल हो, शुद्ध हो, वैर-बुद्धिरहित हो, परोपकारोन्मुख हो। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

ऋषि का आदेश है कि विद्याभ्यास ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि स्त्री-पुरुष सभी करें क्योंकि जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्ड रूप, अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। क्योंकि क्षत्रिय आदि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी हैं एवं ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रिय आदि होते हैं।

आगे चलकर ऋषि ने यह भी कहा है कि जो पढ़ना-पढ़ाना हो उसे अच्छी तरह परीक्षा करके देख लें। असत्य और अनार्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन हानिकारक है। अतः शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ाएँ। जो ग्रन्थ सत्य न ठहरें और इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उनको न पढ़ें, न पढ़ाएँ एवं जो कुछ पढ़ना-पढ़ाना हो, वह अर्थ-ज्ञान सहित पढ़ना-पढ़ाना चाहिए।

ऋषि दयानन्द का कहना है कि व्याकरण-बोध कराने के बाद बालक को आर्ष-ग्रंथों का पाठ कराएँ, क्योंकि इनका पढ़ना ऐसा है जैसा एक गोता लगाने में बहुमूल्य मोतियों को पाना। तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योग पर्वान्तर्गत विदुर-नीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण पढ़ाएँ जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तम सभ्यता प्राप्त हो। इनको भावार्थसहित अध्यापक लोग सुनाएँ और विद्यार्थी लोग जानते जाएँ। ऋषि ने स्पष्ट कहा है कि जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़कर अर्थ नहीं जानता वह जैसे वृक्ष, डाली, पत्ते, फल-

फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे केवल भारवाह है। जो लोग विद्या-वाणी के रहस्य को नहीं जानते, वे अविद्वान हैं।

तत्पश्चात् ऋषि ने कहा है कि विद्यार्थी चार वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन करें ताकि वे शरीर-सम्बन्धी विषयों से अनभिज्ञ न रहें। चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य आदि से परिचित हों। तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् सैन्यशिक्षा एवं शस्त्र-अस्त्र विद्या में निपुणता भी प्राप्त करें और जो-जो प्रजापालन और वृद्धि के प्रकार हैं उनको सीखें, जिससे प्रजा प्रसन्न हो और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड मिले। इस राजविद्या के लिए ऋषि ने दो वर्ष का कार्यक्रम रखा है।

तत्पश्चात् ऋषि कहते हैं कि विद्यार्थी गान-विद्या में भी योग्यता प्राप्त करे।

इसके अतिरिक्त अर्थ-वेद अर्थात् शिल्प-विद्या में भी कुशलता प्राप्त करे और साथ ही ज्योतिषशास्त्र, सूर्य-सिद्धान्त, बीजगणित, अंक-गणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ-विद्या आदि भी सीखें।

तत्पश्चात् हस्त-क्रिया, यन्त्रकला आदि में भी कुशलता प्राप्त करें।

कितनी विशाल है ऋषि की पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में कल्पना।

बीस वर्ष के इस कार्यक्रम में विद्यार्थी को निठल्ला बैठने का समय ही कहाँ है? इस तरह के पाठ्यक्रम में से तपा हुआ विद्यार्थी कैसे अश्लीलता अथवा उच्छृंखलता की ओर जा सकता है? इस तापसी भट्टी से निकला हुआ व्यक्ति निःसन्देह कुंदन की तरह होगा। ऐसे ही ब्रह्मचारियों से अपेक्षा की जा सकती है कि वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके देश को उन्नति, समृद्धि और शक्ति की ओर अग्रसर करेंगे।

भारतीय शिक्षाशास्त्री आज इन्टेग्रेटेड अर्थात् समन्वित शिक्षा की बात करने लगे हैं। लेकिन अभी तक वे केवल बातचीत की ही स्थिति में हैं। कार्यक्रम को अपनाना न जाने कितनी दूर है?

इस विचार को सम्मुख रखकर ही यह प्रयास किया गया है कि ऋषि दयानन्दकृत 'सत्यार्थप्रकाश' के दूसरे और तीसरे समुल्लासों का सरल पाठ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए जिससे कि राष्ट्र के माता-पिता, आचार्यगण एवं विद्यार्थी लाभान्वित हो सकें और देश को

सही दिशा प्राप्त हो। सौ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने जो नुस्खा हमारे सामने प्रस्तुत किया था, यदि हम उस पर अमल कर पाते तो आज देश को इस अस्थिरता की दशा में न पाते। आज हमारा युवक समुदाय भयभीत है, शंकालु है, उसमें आत्मविश्वास की कमी है। वह स्वावलंबी नहीं हैं। कारण कि उसकी शिक्षा-दीक्षा गलत हुई है। न उसे समुचित ज्ञान दिया गया है, न उसे कोई धंधा सिखाया गया है, न उसे देश, राष्ट्र, समाज, संसार, सृष्टि, प्रकृति, परमात्मा इत्यादि के विषय में कुछ ज्ञान दिया गया है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ है। नहीं जानता कि किधर जाए, किधर न जाए? न ही उसे अपने बुजुर्गों के आचरण से शिक्षा मिलती है। जब बुजुर्ग स्वयं ही संयमहीन हो, वासना, तृष्णा, उच्छृंखलता में लिप्त हो तो वानर समान बालक यदि उनकी नकल करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ऋषि दयानन्द भारत का उद्धार चाहते थे, पाखण्ड और जड़ता का विनाश चाहते थे। पुरुषार्थ और स्वावलंबन के वे प्रतीक थे। उन्होंने जो ज्योति आज से सौ वर्ष पहले जगाई थी, वह आज तक विदेश में तो क्या, भारत में भी सर्वत्र नहीं फैली। उसका प्रकाश करना उनके अनुयायियों का कर्तव्य है, परम धर्म है। यह प्रयास इसी दिशा में एक छोटा-सा दीपक है।

निरन्तर शिक्षा

निस्सन्देह शिक्षा का क्रम आयु-पर्यन्त चलता रहता है। जो विचारक पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं, उनके अनुसार तो यह क्रम जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है।

यूरोपीय विचारकों का ध्यान इन दिनों जोर-शोर से इस प्रक्रिया की ओर आकृष्ट हुआ है। यह सिद्धान्त कि शिक्षा विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने के बाद समाप्त हो जाती है, अब निरस्त हो चुका है। कहा जा सकता है कि हर दशक में ज्ञान का विस्तार दुगुना हो जाता है। दूसरे शब्दों में जो स्नातक आज यह समझकर चलता है कि वह सर्वज्ञानी है, तीस वर्ष का होते-होते अर्द्धज्ञानी हो जाएगा, चालीस वर्ष का होते-होते चौथाई ज्ञानी रह जाएगा और पचास वर्ष की आयु में एक आठवाँ तथा इस प्रकार क्रमशः उसका ज्ञान कम होता जाएगा।

ज्ञान-विज्ञान में जो निरन्तर परिवर्धन होता जा रहा है, उसमें अप-टू-डेट रहना तो अब कठिन हो गया है। हाँ, ज्ञान-विज्ञान के रहस्यों को किस प्रकार खोजा जाए और जो सूचना अथवा ज्ञान किसी भी समय किसी को चाहिए उसको कहाँ से, कैसे प्राप्त किया जाए, इसको भी समझने के लिए निरन्तर प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

आज कम्प्यूटर के युग में साधारण पढ़ने-लिखने की भाषा भी लुप्त होती जा रही है। कम्प्यूटर की अपनी भाषा है और तकनीकी तौर पर उन्नत देशों में आज का विद्यार्थी-समुदाय और शिशु-समुदाय उसके प्रयोग से शिक्षा ग्रहण कर रहा है।

स्वास्थ्य हो, इंजीनियरिंग हो, व्यापार हो—सभी क्षेत्रों में अबाध-गति से ज्ञान-परिवर्धन हो रहा है। जो व्यवसायी अपने-अपने पेशे में अप-टू-डेट रहना चाहते हैं, वे ज्ञान-परिवर्धन के मौके खोजने में सजग रहते हैं। यह महसूस किया जा रहा है कि विश्वविद्यालय इस दिशा में

सार्थक सिद्ध हो सकते हैं। "विश्वविद्यालय विद्या और ज्ञान के भण्डार हैं।" वे नये-नये, लम्बे-छोटे भिन्न अवधियों के कोर्स चलाकर जिज्ञासु लोगों की ज्ञान-पिपासा शान्त कर सकते हैं।

उन्नत देशों में ज्ञान के प्रसार और प्रवाहहेतु तरह-तरह के उपकरण तैयार हो चुके हैं और उनमें निरन्तर सुधार जारी है। अब विषय विशेष की सीमाएँ भी प्रायः नष्ट हो चुकी हैं। विभिन्न विषयों के परस्पर मेल से ही विश्व के रहस्य उद्घाटित होते हैं। यह सिद्धान्त अब सर्वमान्य हो चुका है।

भारत के ऋषि-मुनि भी इसी विचारधारा के थे। आजकल यहाँ ऑक्सब्रिज मॉडल के अनुकरण में तीन विषयों को लेकर ही डिग्री प्रदान की जाती है। लेकिन जिस भारतीय शिक्षाविधि का ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादन किया, उसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में, गुरुकुल में रहते हुए निरन्तर १६-१७ वर्ष तक ब्रह्मचारी को २०-२५ से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना होता था। वेद-वेदांग के अतिरिक्त उसे आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थवेद का ज्ञान भी प्राप्त करना होता था। फिर इतिहास, भूगोल, अंकगणित, बीजगणित, खगोलशास्त्र, ज्योतिष-विद्या—ऐसे अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना होता था जिससे कि एक ब्रह्मचारी विभिन्न विषयों में अभ्यस्त होकर निकलता था। इसके साथ ही उसके गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार यह भी निश्चित किया जाता था कि उसको किस वर्ण में प्रवेश करना है, अर्थात् उसने ब्राह्मण का, क्षत्रिय का, वैश्य का अथवा कोई अन्य पेशा अपनाना है। फिर उसे तदनुसार यथायोग्य विषयों में पारंगत किया जाता था।

वैदिक-काल में शिक्षा यहीं समाप्त नहीं हो जाती थी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थों को समय-समय पर विभिन्न पर्व, यज्ञ और संस्कार रचाने होते थे। प्रत्येक पर्व, यज्ञ और संस्कार भी निरन्तर शिक्षा का प्रबल साधन होता था। इन अवसरों पर गृहस्थ को उसके सामाजिक, पारिवारिक तथा राष्ट्रीय पर्वों—कर्तव्यों का बोध कराया जाता था जिससे कि वह सत्पथ पर आरूढ़ होकर जीवनयापन करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थाश्रम तो विशेषतः अध्ययन, अध्यापन, मनन, चिन्तन के लिए सुनिश्चित था ही।

आज भी ज्ञान-विज्ञान के विस्तार के इस युग में प्रबुद्ध शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है। इस आवश्यकता की पूर्ति-हेतु अब जगह-जगह खुले विश्वविद्यालय खोले जा रहे हैं जिनमें प्रौढ़ अवस्था के लोगों को ज्ञान-परिवर्धन के अवसर उपलब्ध होते हैं। इनमें विशेषकर तीन कार्यक्रमों पर ध्यान दिया जाता है—

१. चेतना वर्धन
२. तकनीकी ज्ञान का हस्तान्तरण
३. विशेषज्ञों को अप-टू-डेट करना

इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय अधोलिखित तीन अन्य कार्य भी हाथ में ले सकते हैं, ऐसा विद्वानों का मत है—

१. विकास नीति का दिग्दर्शन
२. अनुसंधान और विकास के कार्यक्रम
३. सलाह, मशविरा, सम्मति प्रदान

स्पष्टतः यह तीनों कार्य एक-दूसरे से मिले-जुले हैं। इनको हाथ में लेकर विश्वविद्यालय समाज के विभिन्न क्षेत्रों के लिए कौन-सी तकनीक उपयुक्त है, इस बारे में समुचित निर्देशन देने में समर्थ होंगे। विश्व-विद्यालयों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे विभिन्न दिशाओं में अपने प्रयोगों का उल्लेख करें ताकि उन क्षेत्रों में कार्य कर रहे अन्य कार्यकर्ता उनके प्रयोगों से लाभान्वित हो सकें। सफलताओं-असफलताओं का समुचित विश्लेषण हो जिससे ज्ञानधारा अग्रसरित होकर राष्ट्र-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

राष्ट्र के समक्ष आज क्या समस्याएँ हैं? अगले बीस वर्षों में क्या-क्या समस्याएँ आने वाली हैं? उनका निराकरण कैसे होगा? विश्वविद्यालयों का यह मुख्य कर्तव्य हो जाता है कि उन पर विचार करें। उनके समाधान ढूंढें। आखिर विश्वविद्यालयों में ही विचारक ब्राह्मणों का निवास है। वहीं ब्रह्मविद्या के ज्ञाता रहते हैं। वहाँ से राष्ट्र की, विश्व की समस्याओं का हल नहीं निकलेगा तो कहाँ से निकलेगा? इस पवित्र कर्तव्य से विद्या के भण्डारों के भण्डारी विमुख नहीं हो सकते। यह उनका परम कर्तव्य-धर्म है।

यह धारणा कि विश्वविद्यालयों का काम केवल डिग्री प्रदान

करना है, मूलत: निरस्त हो जानी चाहिए। उपाधि-प्रदान तो शिक्षा की प्रक्रिया में एक चरण मात्र है। शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थी में स्वाध्याय की, निरन्तर शिक्षा की जिज्ञासा उत्पन्न करना होना चाहिए। तभी तो वैदिक शिक्षा-प्रणाली में समावर्तन के समय गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि स्वाध्याय से कभी जी मत चुराना और सर्वदा दान देना अर्थात् आज के सन्दर्भ में करों की चोरी न करना, क्योंकि दान अर्थात् कर से ही तो शिक्षालय, विद्यालय, गुरुकुल चलते हैं। केवल आदर्शवाद से गाड़ी कहाँ तक खिचेगी ? हर संस्था के संचालन के लिए हर कार्यक्रम के बढ़ाने के लिए द्रव्य और साधनों की आवश्यकता होती है। व्यवहार-कुशल प्रशासक इस दिशा में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। हाँ, यह भी आवश्यक है कि प्राप्त द्रव्य का प्रयोग ठीक प्रकार से हो। उसके व्यय में धांधली न हो। इस हेतु आडिट की, जवाबतलबी, निश्चित समय पर आय-व्यय का हिसाब-किताब प्रस्तुत करने की, आक्षेपों के उत्तर देने की व्यवस्था सभी प्रजातांत्रिक संस्थाओं, समाजों में होती है, ताकि कोई भी प्रशासक अथवा राजा निरंकुश होकर मनमानी न करने पाए।

निरन्तर शिक्षा के साधन

प्रश्न उठता है कि निरन्तर शिक्षा के साधन क्या हों ? भारत में इस विषय पर बहुत प्रयोग हो चुके हैं। अपठित लोगों के लिए रेडियो वरदान सिद्ध हुआ है। अब दूरदर्शन और उपग्रह भी उपस्थित हो गए हैं। अलबत्ता आवश्यकता इस बात की है कि इनके प्रोग्राम समस्यापूर्ति से जुड़े हुए हों।

बहुत दिन हुए राजस्थान के गंगानगर जिले में दौरा करता हुआ मैं एक ग्राम में पहुँचा। एक स्थानीय कृषक से बातचीत हुई। उसकी खेती बहुत समुन्नत थी। मैंने पूछा कि उसने प्रशिक्षण कहाँ से प्राप्त किया ? कहने लगा, 'रेडियो से।' मैंने फिर पूछा, 'रेडियोवालों के लिए कोई सन्देश देना चाहोगे ?' बोला, 'उनसे कहिए जनवरी, फरवरी, मार्च का उल्लेख न करके चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ की बात किया करें तो हमें अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। सन्देश स्पष्ट है, जिस व्यक्ति का प्रशिक्षण अभीष्ट है, उसी की मातृभाषा में बातचीत, प्रोग्राम हो तो अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

अब तो वीडियो, टेपरिकार्डर, कैसेट भी उपलब्ध हैं। केवल इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उनके द्वारा दिए गए प्रोग्राम सात्विक हों।

यही सिनेमा के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए। उपग्रह के आ जाने से अब दूर से दूर बैठे व्यक्ति तक पहुँचा जा सकता है।

विश्वविद्यालयों के पास ज्ञान के भण्डार हैं। अतः आधुनिक युग में उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे जिसे साफ्ट वेयर अथवा प्रोग्राम कहते हैं, तैयार करें। इसके लिए निरन्तर मेहनत करनी होगी। सैकड़ों घंटे काम करना होगा। रिहर्सलें करनी होंगी। तब कहीं जाकर अच्छे दर्शनीय प्रोग्राम तैयार होंगे। राष्ट्रीय टी० वी० पर, वीडियो पर अधकचरे प्रोग्राम नहीं चलेंगे।

प्रोग्राम बनाने के अतिरिक्त, विश्वविद्यालय अपनी क्षमता के अनुसार अपनी विस्तार-सेवाएँ भी जनसाधारण के हित के लिए समर्पित कर सकते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं तथा समाचार-पत्रों द्वारा अपने ज्ञान का प्रकाश चहुँ ओर फैला सकते हैं। ये कुछ दिशाएँ हैं जिनमें अध्यापक वर्ग, गुरुजन अर्थात् ब्राह्मण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

आर्य समाज का एक नियम यह है कि आर्य सभासद् को केवल अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। समाज की उन्नति के लिए निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए।

इस प्रयास में विश्वविद्यालय छोटे-छोटे कोर्स भी चला सकते हैं।

अध्यापकों को सप्तवर्षीय अवकाश भी प्रदान किए जा सकते हैं, जिनमें वे जहाँ-तहाँ जाकर अपने मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षितिज विस्तृत कर सकें और पुनः अपने विश्वविद्यालय में आकर अधिक उपयोगी सिद्ध हों।

राष्ट्र के राजनैतिक नेताओं, अफसरों, कर्मचारियों, कारखानेदारों, किसानों, मजदूरों के पास अपार शक्ति है। आवश्यकता है दिशा-निर्देशन की, ध्रुवमार्ग दिखलाने की—यह है कार्य आज के युग में विश्वविद्यालयों का, क्योंकि वैदिक परिभाषा में वही आजकल के गुरुकुल हैं।

ब्रह्मचारी कौन है ?

अपने आत्म-चरित्र में शैशव-काल की जिस सबसे पहली स्मृति का स्वामी श्रद्धानन्द उल्लेख करते हैं वह उनके मामू के मद्यपान से सम्बन्ध रखती है। उनके मामू पुलिस में सवार के पद पर नियुक्त थे। होली का मेला देखकर शहर लौटकर आ रहे थे। घोड़ी अठखेलियाँ खेलती चली आ रही थी। जब स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम) की दृष्टि उन पर पड़ी तो क्या देखते हैं कि पगड़ी गले में लटक रही है, शरीर एक ओर झुक रहा है। गिरने ही वाले थे कि दो आदमी उन्हें सहारा देकर कोठी के आँगन में ले गए। वे प्रायः बेहोश ही थे। उनका कुर्ता धार-धार था, मुख डरावना प्रतीत हो रहा था। पान की राल मुँह से निकल रही थी। शरीर दुर्गन्धमय था, पैर चारपाई पर पटक रहे थे। अन्य लोगों के चले जाने पर मुंशीराम की माताजी कमरे में से निकलीं और शराबी के सिर पर पानी डलवाना आरम्भ किया। इतने में ही उनकी दृष्टि मुंशीराम पर पड़ी। "इसे यहाँ क्यों आने दिया ?" कहते हुए माताजी मुंशीराम को बगल के कमरे में ले गईं और प्रयत्न करती रहीं कि मुंशीराम उस दृश्य को भूल जाएँ।

अपने आत्म-चरित्र में स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि इस सम्बन्ध में मैंने माताजी से कुछ प्रश्न भी किए जो स्मरण नहीं रहे परन्तु माताजी ने मेरा ध्यान दूसरी ओर खेलों में लगा दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुंशीराम सारी उम्र इसी प्रश्न का ही उत्तर ढूँढ़ते रहे—युवकों को बुरी आदतों से कैसे बचाया जाए ? मनुष्य जीवन का अर्थ क्या है ? मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाने के लिए कैसे तैयार किया जाए ?

जब स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम) ऋषि दयानन्द के संसर्ग में आए तो उन्हें इस समस्या का इलाज सहज में ही मिल गया। ऋषि के

आचार-व्यवहार का उनके मन पर बड़ा जोरदार प्रभाव पड़ा। ऋषि ने तो देश की समस्या का नुस्खा गुरु विरजानन्द के चरणों में बैठकर प्राप्त कर ही लिया था और गुरु-दक्षिणा के रूप में उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि आयु-पर्यन्त सत्य धर्म का प्रचार करेंगे जिससे कि देश और जाति अन्धकार के कूप में से निकलकर ज्योति के शिखर की ओर अग्रसर हों।

राष्ट्रोत्थान की इस सीढ़ी में एक जरूरी सोपान था ब्रह्मचर्य-पालन। ऋषि दयानन्द ने देखा कि भारत की अधोगति का एक प्रमुख कारण बाल-विवाह है। ऋषि ने अनुभव किया कि देश में बाल-विवाह की प्रथा को मिटाना होगा। इसी उद्देश्य से उन्होंने यह व्यवस्था दी कि पुरुषों को पचीस वर्ष की आयु से पहले और स्त्रियों को सोलह वर्ष की आयु से पहले विवाह नहीं करना चाहिए। लेकिन ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था केवल बाल-विवाह का नकारात्मक पहलू ही नहीं है, ब्रह्मचर्य आश्रम इससे कहीं बढ़कर है।

स्वामी श्रद्धानन्द ने भी ब्रह्मचर्य आश्रम की महिमा को पहचाना और ब्रह्मचर्य की साधना को सुलभ करने हेतु ही उन्होंने गंगा के तट पर कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की।

उन्हें स्वाध्याय का व्यसन तो था ही, साथ ही जो कुछ पढ़ते थे उस पर यथेष्ट मनन करते थे, और तदुपरान्त अपने विचारों को परिष्कृत भाषा में लेखबद्ध भी करते थे। उन्होंने अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त का गहराई से अध्ययन किया। तत्सम्बन्धी मन्त्रों की उन्होंने जो व्याख्या उस समय की, वह आज भी उतना ही वजन रखती है जितना कि उन दिनों रखती थी। उनके सहयोगी लुधियाना के श्री लब्भूराम नय्यर ने उनके लेखों को 'धर्मोपदेश' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया। इसके लिए आर्य-जगत् सदा ही उनका आभारी रहेगा।

यह उचित ही है कि हम स्वामी श्रद्धानन्द के इन लेखों में प्रकट किये हुए विचारों का अध्ययन करें और उनकी शहादत के अर्ध-शताब्दी वर्ष में यह सोचें कि उन विचारों की आज क्या कीमत है और क्या हम उनके विचारों के अनुसार गुरुकुल को आगे ले जा रहे हैं? इस बात का उल्लेख करना भी असंगत न होगा कि अपने बलिदान से कुछ घंटे पहले

आपने जो वसीयत लिखवाई थी उसके तीन अंगों में एक अंग यह था कि गुरुकुल की रक्षा की जाए।

ब्रह्मचर्य सूक्त के पहले मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"परमेश्वर और उसकी बड़ी विद्या वेद को प्राप्त करने में शील जिसका, वह ब्रह्मचारी थी और पृथ्वी रूपी दोनों लोकों को हिलाता हुआ चलता है। उसमें ही सब देव समान मन वाले होते हैं। वह पृथ्वी और द्यौ को दृढ़ता से धारण करता है। वह आचार्य को तप से पालता अर्थात् सन्तुष्ट करता है।"

स्वामी जी लिखते हैं कि ब्रह्म परमेश्वर को कहते हैं। उस अनाद्यनन्त की आदि विद्या भी ब्रह्म ही है। ब्रह्मचारी वेद से ज्ञान प्राप्त करते हैं। निःसन्देह उसका ज्ञान वहाँ ही प्राप्त हो सकता है जहाँ वह विद्यमान है। अतः पृथ्वी और आकाश के अन्दर जो रहस्य छिपा हुआ है उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचारी पृथ्वी और आकाश को हिलाता हुआ चलता है। वह प्रकृति को मजबूर कर देता है कि अपने रहस्यों को उसके लिए खोलकर रख दे। जब ब्रह्मचारी को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह उसमें गमन करता है। जहाँ उसे पहले भिन्नता दिखाई देती थी वहाँ समानता दिखलाई देने लगती है। इस तरह वह स्थिरता को प्राप्त होता है और द्यौ और पृथ्वी को दृढ़ता से धारण कर लेता है।

प्रश्न उठता है कि इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने और उसमें स्थिर होकर दृढ़व्रती होने का साधन क्या है? यह साधन ब्रह्मचारी को आचार्य बतलाता है। वह साधन है तप। जब शिष्य आचार्य की शिक्षा के अनुकूल आचरण करता हुआ तपस्वी जीवन व्यतीत करता है तभी आचार्य की भी सन्तुष्टि होती है। इस मन्त्रसार के अन्त में स्वामी जी लिखते हैं कि धन्य हैं वे शिष्य जो सब मनुष्यों के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों को और यश आदि पदार्थों को सामर्थ्ययुक्त बनाता हुआ, जितेंद्रिय और यशस्वी ब्रह्मचारी ही गम्भीर ज्ञान समुद्र के तल पर तप करता हुआ ठहरता है। इस प्रकार ज्ञान-समुद्र में विचरता हुआ वह ब्रह्मचारी ही असली स्नातक होकर, ज्ञानवारिधि में नहाया हुआ होकर, चक्षु आदि इन्द्रियों को और यश आदि पदार्थों को धारण करता हुआ अत्यन्त

तेजस्वी होता हुआ इस पृथ्वी पर नाना प्रकार से सुशोभित होता है।

ब्रह्मचर्यसूक्त का दूसरा मन्त्र कहता है कि "सब पालक देव समूह और जुदे-जुदे ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। गन्धर्व भी इसके साथ चल रहे हैं।"

सब ३३ × ३३३ × ६३३३ देवों को वह तप से पूर्ण करता है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी लिखते हैं कि जब ब्रह्मचारी तप से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तब देवतुल्य शक्तियाँ उसके पीछे-पीछे चलती हैं। गन्धर्व भी उसका रास्ता साफ करते हैं। ब्रह्मचारी का तप जगत् की कायापलट कर देता है। ज्ञान-गोष्ठियाँ तो बड़े-बड़े विद्वान् भी करते आये हैं परन्तु राष्ट्रों के जीवन को नया मोड़ वही दे पाते हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य के बल से दिव्य शक्तियों को अपना अनुचर बना लिया है। आदिकाल से मनुष्य जाति को नये मोड़ और नये रास्ते उन्हीं लोगों द्वारा दिखलाए गए हैं जो महान् तप करके ब्रह्म में विचरने की शक्ति प्राप्त कर लेते है और जिनमें विश्व के रहस्यों को मानव जाति के लिए खोलकर रखने की क्षमता होती है।

ऐसे ही प्रातःस्मरणीय महामानवों की श्रृंखला में आते हैं—बुद्ध, महावीर, ईसा, सुकरात, नानक, कबीर, लूथर, दयानन्द, श्रद्धानन्द, तिलक, गाँधी और फिर आर्यभट्ट, कॉपरनिक्स, गैलीलियो, न्यूटन, आइन्स्टीन, मार्कोनी, एडिसन, मार्कोपोलो, कोलम्बस, हिलेरी, तेनसिंह, नील आर्मस्ट्रांग आदि।

शिक्षा अथवा कुशिक्षा

दिसम्बर, १९७७ में स्वर्गीय श्री मन्नारायण द्वारा आयोजित राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने अंग्रेजी में बोलते हुए कहा था कि कैसी विडम्बना है कि वह अपने ही देशवासियों को विदेशी भाषा के माध्यम से उद्बोधित कर रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे विद्यार्थीगण का बहुत कीमती समय विदेशी भाषा के व्याकरण की गुत्थियाँ सुलझाने में ही व्यतीत होता है और इसलिए वे काम की बातें ग्रहण करने से वंचित रह जाते हैं। फिर भी हम असहाय बेड़ियों में बंधे उसी रास्ते चलते जा रहे हैं। इस बन्धन से कब और कैसे छुटकारा होगा, यह प्रश्न विचारणीय है।

इसमें दो राय नहीं कि इस वक्त देश की आत्मा छटपटा रही है। देश का नवयुवक उद्वेलित है। वह कुछ कर गुजरना चाहता है। पर उसे क्या करना है, यह उसको नजर नहीं आ रहा है। वह अपने बुजुर्गों के कारनामों से क्षुब्ध है। आक्रोश में है। वह अपनी जंजीरों को तोड़ना चाहता है। कुलपति को वह उन जंजीरों का प्रतीक समझकर उसके विरुद्ध विद्रोह करता है। बस-कंडक्टर उसे मनमानी सहूलियत प्रदान नहीं करता, इसलिए वह बस का अपहरण करता है। सिनेमाघर उसे सस्ता टिकट नहीं देता, इसलिए वह सिनेमाघर के विरुद्ध आन्दोलन करता है। परीक्षा-भवन में प्रश्न-पत्र पाकर वह ठीक ऐसा ही मचलता है जैसे लाल कपड़ा देखकर बैल।

दरअसल यह सब बीमारी के लक्षण हैं। बीमारी तो बड़ी गहरी है। वह राष्ट्र के नेताओं की पकड़ में नहीं आ रही। पिछले तीस वर्षों में राष्ट्र की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर कितने ही आयोग बैठे, समितियाँ बैठीं, सम्मेलन हुए, पर परनाला वहीं का वहीं है। कभी-कभी तो ऐसा महसूस होता है कि हमारे लक्ष्य ही स्पष्ट नहीं हैं। हम चाहते

क्या हैं ? हम किधर जाना चाहते हैं ? हम कल को कौन-सी फसल लेना चाहते हैं ? हमें यह स्पष्ट नहीं है। एक बार हमारे लक्ष्य स्थिर हो जाएँ, फिर तो रास्ता भी स्थिर हो सकता है। यदि हम यह निश्चय कर लें कि हमें कल को क्या फसल काटनी है, तभी तो हम तय कर पाएँगे कि आज बोएँ क्या ? यदि हम यह स्थिर कर सकें कि हम सन् २००० में भारत का क्या रूप देखना चाहते हैं, तभी तो हमें उसके लिए आज क्या करना है, यह तय कर पाएँगे।

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में शायद यह विधि आसान रहेगी कि हम पहले इस बात पर विचार करें कि हम क्या नहीं चाहते अर्थात् हमें क्या-क्या दुःख हैं जिनको हमें दूर करना है ?

स्पष्ट है, पहला दुःख व्यापक गरीबी है, दूसरा दुःख असमानता है, अस्पृश्यता है। गरीब की कम से कम आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, इसलिए वह दुःखी है। साथ में जब वह देखता है कि उसी के देश, नगर तथा ग्राम का एक वर्ग विलास-क्रीड़ा में लिप्त है तो वह क्षुब्ध हो उठता है, विषादयुक्त हो जाता है। उसे समझ नहीं आता वह क्या करे ? यदि वह शान्तवृत्ति का है, तो भगवान या मन्दिर की शरण जाता है। यदि वह उग्रवृत्ति का है तो विद्रोह करता है—भगवान के विरुद्ध, पदासीन संस्थाओं के विरुद्ध।

गरीबी की समस्या का इलाज है—अधिक उत्पादन और न्याय-पूर्ण वितरण। उत्पादन बढ़ेगा पुरुषार्थ और उद्यम से और न्यायपूर्ण वितरण होगा समभाव एवं भ्रातृ-भाव से।

यदि यह नुस्खा ठीक है तो पहला प्रश्न उठता है कि पुरुषार्थ, उद्यम की भावना कैसे जाग्रत हो ? यदि हम अपने इर्द-गिर्द नजर दौड़ाएँ तो यह देखने को मिलेगा कि जिनको हम अनपढ़ कहते हैं वे तो पुरुषार्थी हैं, उद्यमी हैं परन्तु जो तथाकथित पढ़े-लिखे लोग हैं, वही पुरुषार्थ से जी चुराते हैं। किसान को ही लीजिए, हम उसको पढ़ाने चले हैं, परन्तु वह सुबह-शाम, सर्दी-गर्मी खेत में परिश्रम करता नजर आता है, परन्तु उसका पढ़ा-लिखा लड़का गले में ट्रांजिस्टर लटकाये पान-बीड़ी की दुकान पर टहलता नजर आता है और हमारे सामाजिक मूल्यों की विडम्बना देखिए, किसान पिता भी यही कहता है, कि यदि

मैंने इससे भी हल चलवाना था तो इसे पढ़ाया-लिखाया क्यों ?

हाँ, यह भी एक सचाई है कि खेती-बाड़ी में भी आखिर एक सीमा तक ही जनसंख्या खप सकती है। जिस तेजी से हमारी जनसंख्या बढ़ती जा रही है, उसके लिए कृषि व्यवसाय में स्थान कहाँ है ? इसीलिए तो पढ़-लिखकर रोजगार की तलाश में ग्रामीण नवयुवक शहर की ओर भागते हैं।

हम इस तथ्य से आँखें नहीं मूँद सकते कि हमारी जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उससे हमारे जीवन का स्तर कभी भी ऊँचा नहीं हो पाएगा। पिछले तीस वर्षों में हमारी जनसंख्या लगभग दुगुनी हो गई है। आज देश में लगभग चालीस करोड़ व्यक्ति गरीबी की रेखा के नीचे पीड़ित हैं। यदि यही गति रही तो सन् २००० में क्या स्थिति होगी, चिन्तन का विषय है। इस गति को रोकने के लिए सब प्रकार के साधनों का भरपूर उपयोग करना होगा—सिनेमा का, टी० वी० का, रेडियो का, पत्र-पत्रिकाओं का, कठपुतलियों का, नृत्य-नाटकों का, पुस्तक-पुस्तकालयों का, वाद-विवाद का, शास्त्रार्थ का। इस दिशा में जरा-सी भी शिथिलता सर्वप्रकारेण घातक सिद्ध होगी। प्रचार के साथ-साथ परिवार-नियोजन सम्बन्धी उपकरण और व्यावहारिक चिकित्सा-सुविधाएँ भी सस्ते दामों पर उपलब्ध करानी होंगी।

शिक्षा का लक्ष्य केवल साक्षरता ही नहीं है। साक्षरता तो शिक्षा का एक साधन मात्र ही है। शिक्षा का लक्ष्य बौद्धिक-मानसिक प्रेरणा देना, लक्ष्य को दिखाना, वास्तविक पथ-प्रशस्त करना है। समृद्धि, भ्रातृभाव, सहृदयता, सन्तोष की ओर ले जाना, चरित्र-निर्माण आदि है। सम्प्रति जो शिक्षा दी जा रही है उसे शिक्षा की संज्ञा देना हास्यापद है। शिक्षा की इस प्रक्रिया से निकलने वाले लोगों को केवल अपनी पेटपूजा की, अपनी कुर्सियों की, अपनी सुविधा की पड़ी रहती है। परिणाम यह है कि धक्कम-धक्का, लूट-खसोट, कानून-भंग आदि की तूती बजती है। जिस सभ्यता की हम दुहाई देते हैं उसका हनन होता दिखाई दे रहा है। कहाँ है अस्तेय, अपरिग्रह एवं अहिंसा की मर्यादाएँ ? वेद का आदेश है, "तेन त्यक्तेन भुंजीथा:"। कितने पढ़े-लिखे लोग हैं जो इस आदेश के अनुसार अपना जीवन ढालते नजर आते हैं ? अनपढ़

किसान तो इसका पालन करता है, परन्तु पढ़ा-लिखा व्यक्ति ? पढ़े-लिखे लोग नित्य हड़तालें कराते हैं और अपना उल्लू सीधा करने के लिए हिंसात्मक तरीकों का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकिचाते। तोड़-फोड़ कराते हैं। कारण यह है कि हमने नैतिक शिक्षा पर जितना जोर देना था, उतना जोर नहीं दिया। हमने शिक्षा का लक्ष्य केवल स्वयं की उन्नति तक ही सीमित कर दिया। महर्षि दयानन्द ने कहा था, "व्यक्ति को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" हमने इस मन्त्र को ग्रहण नहीं किया।

सबकी उन्नति का ध्यान किसी को आए ही कैसे ? वर्तमान शिक्षा पद्धति प्रारम्भ से ही बच्चों का सीमित वातावरण में पालन-पोषण करती है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का पाठ केवल हमारे शास्त्रों के पन्नों तक ही सीमित है। शुरू से ही भिन्न परिवारों के बच्चों को भिन्न प्रकार की सहूलियतें प्राप्त हैं। अत: ऊँच-नीच की, भेदभाव की भावना पुष्ट की जाती है। एक ही मुहल्ले में रहने वाले बच्चे अपने माँ-बाप की हैसियत के अनुसार भिन्न स्कूलों में जाते हैं। एक ही मुहल्ला क्यों, एक ही मकान में रहने वाले, मालिकों के बच्चे अंग्रेजी स्कूलों में जाते हैं, उनके नौकरों के बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं। यहीं से ऊँच-नीच, भेदभाव पनपने लगता है। हम कितना भी चिल्लाकर कहें कि हम एक प्रजातन्त्र के सदस्य हैं, परन्तु दरहकीकत हम वर्गभेद की खाइयों से अटे पड़े हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में बुनियादी तालीम पर तो जोर दिया गया, परन्तु जब पब्लिक स्कूल एवं खुशहाल वर्ग के अंग्रेजी स्कूलों का प्रश्न आया, तो प्रबुद्ध विचारकों का चिन्तन भी लड़खड़ा गया। उन्हें समझ ही नहीं आया कि क्या निर्णय करें। आखिर वे भी तो खुशहाल तबके से सम्बन्धित हैं। यदि सभी स्कूल एक-जैसे बन गए तो जिस बुनियाद पर उनके परिवारों की खुशहाली आधारित है, क्या वह ढह न जाएगी ? हमें इस सचाई का सामना करना ही है कि यदि हम सचमुच सन् २००० तक भारत में समानता के आधार पर समाज संगठन स्थापित करना चाहते हैं, तो आज ही हमें ऊँच-नीच का भेद समाप्त

करना होगा; वरना इन स्कूलों के बच्चे कभी भी ऊँच-नीच की भावना से मुक्त नहीं हो पाएँगे।

इन स्कूलों के अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि इनके द्वारा हम ऊँची श्रेणी के नागरिक पैदा करते है। यदि आँकड़े प्राप्त किए जाएँ तो यह धारणा भी गलत ही सिद्ध होगी। प्रथम तो यह आवश्यक नहीं कि इन स्कूलों के सभी बच्चे उच्च श्रेणी के प्रबुद्ध नागरिक बनेंगे। वे स्नातक तो जरूर बन जाएँगे, परन्तु दूसरों के दुःख-दर्द में शिरकत करने की प्रवृत्ति उनमें पैदा हो यह आवश्यक नहीं। दुनिया की दौड़ में अपने परिवार की सहायता से वे भले ही अन्य बच्चों से आगे बढ़ जाएँ, परन्तु वे किस हद तक समाज को बदलने के कार्य में योगदान देंगे, इसके आगे बड़ा भारी प्रश्नचिह्न लगाना होगा।

मैं ऐसे बच्चों को जानता हूँ जिन्हें मेयो कॉलेज से पास होने के बाद सेंट स्टीफन कॉलेज दिल्ली में प्रवेश मिल गया। यहाँ से डिग्री लेने के पश्चात् वे हिचकिचाहट करके पश्चिम एशिया के रास्ते यूरोप, इंग्लैंड आदि पहुँचे। हिचकिचाहट करके स्वदेश लौटे, परन्तु फिर स्वदेश में टिक नहीं पाए। आज वे कनाडा, अमेरिका आदि में राज्य के उच्च पदों पर आसीन हैं, परन्तु भारत माँ को उनसे क्या मिला? साठ करोड़ भारतवासियों को उनकी योग्यता, पुरुषार्थ से क्या लाभ? इसी तरह हजारों भारतीय बालक आज विदेशों को जा रहे हैं। यह प्रतिभा-पलायन क्या हमारी अपनी कमजोरियों का परिणाम नहीं है?
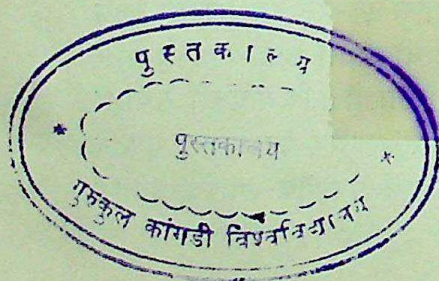
□□

लेखक-परिचय

(गोवर्धन, बलभद्र कुमार हूजा)

जन्म : ३१ जनवरी १९१५, बहावलपुर, पाकिस्तान

शिक्षा : अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि

नियुक्तियाँ : अर्थशास्त्र में प्रवक्ता (१९३६-३७)

पंजाब सिविल-सेवा १९३८, निर्देशक समाज उत्थान, १९४६

जिलाधीश एवं दण्डाधिकारी, भारतीय प्रशासनिक सेवा, १९५२

कुलपति, उदयपुर कृषि विश्वविद्यालय, १९६२-६३

अध्यक्ष, राजस्व-मण्डल राजस्थान सरकार १९६४-६७

आयुक्त, सीमावर्ती जिला-समूह, राजस्थान सरकार, १९६७-६८

अध्यक्ष, लोक-सेवा आयोग, मणिपुर, १९७२-७५

सम्प्रति : कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, १९७५ से आज तक।

प्रकाशन : लोक प्रशासन विषय पर निबन्ध-संकलन, कविता-संग्रह, बिनोवा भावे पर निबन्ध-संग्रह 'साकेत एव संकलन', जगतराम भारद्वाज की जेल-डायरी, अनुवाद एवं संपादन, विभिन्न सामाजिक विषयों पर सौ से अधिक लेखों का प्रकाशन कार्य।

सदस्यताएँ : भारतीय इसिहास एव संस्कृति परिषद्, भारतीय लेखक संघ, पंजाबी थियेटर, नई दिल्ली, स्काउट कमिश्नर, विश्व मामलों की भारतीय परिषद, सदस्य परिवार कल्याण-संघ, कार्यपरिषद सदस्य, भारतीय विश्वविद्यालय संघ, सदस्य, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, कोर्ट।

रूचियाँ : संगीत, बागवानी, तैरना, योग, अध्ययन, लेखन।